श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थावलिः—३

श्रीमत्परमशिवेन्द्रसरस्वतीकृता

दहरविद्याप्रकाशिका

सम्पादकः
श्रीदक्षिणामूर्ति-निरञ्जनपीठाधिपतिः आचार्यमहामण्डलेश्वरः
स्वामी महेशानन्दगिरिः

प्रकाशकः
श्रीदक्षिणामूर्तिमठः
वाराणसी

मूल्य 35 रुपये मात्र

पुस्तकप्राप्तिस्थानानि

●●

१- श्री दक्षिणामूर्ति मठ,

डी ४९/९, मिश्रपोखरा, वाराणसी-२२१ ०१०

●●

२- श्री विश्वनाथ संन्यास आश्रम,

श्रीराम रोड, दिल्ली-११० ०५४

●●

३- श्री शङ्कर मठ,

आबू पर्वत-३०७ ५०१

प्रथमं संस्करणम्
भगवत्पादाब्दः १२०३
वैक्रमाब्दः २०४८

मुद्रक :

निर्मल चित्रण, 5/161, सौंठ की मण्डी, आगरा

विषय-सूची

भूमिका	vi—xxiv
उपोद्घातः	xxv—xxvi
दहरविद्याप्रकाशिका	१–८४
पूजाद्यपेक्षया ध्यान आदरः	१
रुद्रः साक्षात् संसारमोचकः	२
ध्यानस्यावश्यकार्यता	४
धर्मः प्रसादसाधनम्	५
वर्णिनामाश्रमिणां स्त्रीणां च षडक्षरं जप्यम्	६
ध्यानम्	७
समाधिः	८
अन्तरायाः	९
ध्यात्रादिचतुष्टयम्	१०
ध्याननिष्ठं प्रतीशानुग्रहः	१२
हृदयपुण्डरीके परमेश्वरध्यानमित्यत्र पुराणवचांसि	१३
सूतसंहितावचनानि	१३
वायवीयसंहितावचनानि	१४
कौर्मवचनम्	१५
सौरसंहिताकथनानि	१५
ब्रह्मविष्ण्वादिभिः परमेश्वरोपासनं कृतमित्यत्र पुराणोक्तयः	१६
सूतसंहितावचांसि	१६
पराशरोपपुराण-सौरसंहिता-वासिष्ठलैङ्गवचनानि	१८
उमार्धविग्रहा परामूर्तिः	१९

भ्रूमध्याद्यपेक्षया हृत्पुण्डरीके ध्यानं प्रशस्तम्	२०
उपनिषत्सु हृदयपुण्डरीके परमेश्वरोपास्तिविधिः	२१
एकादशरुद्रसंहितायां विहितमुपासनम्	२३
गुणोपसंहार	२५
'चोदनाद्यविशेषाद्' गुणोपसंहारसिद्धिः	२६
विद्याभेदेपि गुणोपसंहारः	२८
उपसंहारप्रयोजनम्	२९
परमेश्वरगुणानामप्युपसंहारः	२९
नारायणस्योपासकत्वेनैव श्रवणम्	३०
ध्यानक्रमः	३१
ध्यानस्यान्यः प्रकारः	३२
उपास्यब्रह्मणो गुणनिर्धारणम्	३५
उपासनाप्रकारः	३६
अधिकारी	३६
सगुणविद्यायां संन्यासोऽनावश्यकः	३८
अणोरणीयानित्यादिमन्त्रस्य परमेश्वरपरत्वम्	३९
वेदान्तविज्ञानेत्यादिमन्त्रस्य व्याख्यानान्तरम्	४१
अधिकारी कथं विचिन्तयेद्	४१
द्वेधा ध्यानम्	४२
विष्णुशङ्करयोस्तत्त्वांशेऽभेदो, न लीलाविग्रहांशे	४४
कृष्णपिङ्गळशब्देनार्धनारीश्वरस्वरूपमुच्यते	४४
देवीविष्ण्वोरभेदः	४५
परमेश्वरस्योपास्यत्वादिके भाष्यकारसम्मतयः	४७
लीलाविग्रहेषु स्तोत्रादिप्रमाणनिदर्शनम्	४९

द्विविधध्यानयोराद्यस्य प्रकारः	५२
परमात्मविशेषणानामर्थः	५४
वशित्वादिकं मायिकम्	५६
फलनिरूपणम्	५७
दहरविद्याङ्गमन्त्रः	६२
सायुज्यादौ मानम्	६४
ब्रह्मलोके तारतम्यम्	६६
ब्रह्मलोकादावृत्त्यनावृत्तिविचारः	६९
उपदेशपंचकस्योपदेशः	७२
उपासकस्य न निर्गुणप्राप्तिः	७४
पुराणेषु शिवचिन्तामाहात्म्यम्	७४
समग्रग्रन्थार्थस्य श्लोकैः प्रकाशनम्	७८
ध्येयशिव आत्मार्पणस्तुतिप्रमाणम्	८२
शिवरहस्यश्लोकैर्मङ्गलम्	८३
ग्रन्थसमाप्तिः	८४

मूल्य 35 रुपये मात्र

भूमिका

अद्वैत के इतिहास में १७वीं शताब्दी ईस्वी काफी महत्त्वपूर्ण रही है। ब्रह्मसूत्रभाष्य पर वार्तिक लिखने वाले श्री अभिनवनारायणेन्द्र सरस्वती, उनके शिष्य श्री परमशिवेन्द्र सरस्वती तथा उनके शिष्य श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती– सभी ने सामान्य व्यक्तियों को अद्वैत में प्रवेश करने के उपायों का प्रतिपादन कर अद्वैत का पथ प्रशस्त किया। नीलकण्ठ दीक्षित साँभोजी के समय में मान्य पण्डित थे एवं उन्ही के समय में श्री परमशिवेन्द्र सरस्वती भी हुए। साँभोजी का समय १६१२ ईस्वी है। श्री परमशिवेन्द्र की शिवगीताव्याख्या कुछ अध्यायों तक वाणी विलास मुद्रणालय से छपी है जिसमें उनकी अद्वैतविषयक गंभीर विद्वत्ता का पता चलता है। पूर्ण मातृका उपलब्ध होने पर भी दुर्भाग्यवशात् उसका मुद्रण नहीं हो पाया है। दहरविद्याप्रकाशिका उन्हीं का उपासना सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें अद्वैत के साधकों को श्रौत उपासना करने का मार्ग प्रशस्त किया गया है। औपनिषद उपासनायें प्रायः लुप्त हो गयी हैं, केवल शाण्डिल्य आदि कुछ ही बची हैं। उपासना का विषय कर्मकाण्ड से सम्बद्ध होने से जब तक सम्प्रदायपरम्परा से प्राप्त न किया जाये तब तक इसका भेद खुलता नहीं। जितना भी लिख दिया जाये, कुछ न कुछ कहना बच ही जाता है। यह बात दहरविद्याप्रकाशिका के बारे में भी समझकर रखनी चाहिये। इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने न केवल उपासना की पद्धति बतायी है वरन् उपास्य तत्त्व में पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न हो इसलिये उसका भी समुचित वर्णन किया है जो प्रायः अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। हमारा विश्वास है कि इस ग्रन्थ के द्वारा यह उपासना अधिक प्रचलित हो पायेगी। यह ग्रन्थ बालमनोरमा मुद्रणालय क्रमसंख्या ५ में मद्रास से १९१५ ईस्वी में छपा था परन्तु बहुत वर्षों से अनुपलब्ध हो गया था। पाण्डितराज एस्. सुब्रह्मण्यशास्त्री द्वारा प्रदत्त इसकी प्रति के आधार पर इसका संस्करण कर इसे प्रकाशित किया जा रहा है। श्रीदक्षिणामूर्ति मठ की परम्परा में इसकी महत्त्वपूर्ण उपयोगिता रही है।

उपनिषत्, स्मृति, इतिहास, पुराण और आगमों में परमेश्वर के ध्यान के प्रति जो आदर दिखाया गया है वह पूजा, नमस्कार, स्तुति, जप इत्यादि के लिये नहीं देखा जाता। चारों वेदों में अथर्ववेद अन्तिम भाग है। अथर्ववेद का अंन्तिम भाग अथर्वशिखोपनिषत् है। उसकी समाप्ति में कहा गया है 'बाकी सभी–कर्म, उपासना, देवताओं–को छोड़कर एकमात्र शिव का ध्यान ही करना चाहिये।' यहीं अथर्वशिखा समाप्त होती हैं। ध्यान का तात्पर्य मन से अन्य चीजों को हटाकर शिव को ही मन से इच्छा करके चाहना है। इसी दृष्टि से कठोपनिषत् में यमराज ने नचिकेता से कहा है कि जो भी परमात्मा का वरण कर लेता है उसके सामने वह प्रकट हो जाता है। याज्ञवल्क्य ने भी अपने योगयाज्ञवल्क्य ग्रन्थ में बन्धन और मोक्ष का कारण ध्यान को बताकर मन से आत्म स्वरूप को जानना ही ध्यान का रूप बतलाया है। आगे चलकर उन्होंने निर्गुण ध्यान एक प्रकार का और सगुण ध्यान अनेक प्रकार के कहे हैं। भगवद्गीता में भी छठे अध्याय में ध्यान के विषय में बताया है। तपस्वी आदि से योगी की श्रेष्ठता वहाँ कही है। बारहवें अध्याय में ध्यान की विशेषता मुखतः कही है। स्कन्दपुराण दो प्रकार का है – खण्डात्मक व संहितात्मक। संहितात्मक स्कन्दपुराण का सूतसंहिता भाग अद्वैतसाधना समझने में अत्यन्त उपयोगी है। इसकी विशेषता श्रीविद्यारण्य स्वामी द्वारा इस पर टीका लिखे जाने से और भी बढ़ गयी है। इसके यज्ञवैभवखण्ड में अथर्वशिखा का ही अनुवाद करते हुए स्पष्ट कहा है कि बुद्धिमानों को मोक्षप्राप्ति के लिये अन्य सब देवताओं का परित्याग कर मोक्ष देने वाले शिव का ही ध्यान करना चाहिये। आगे कहा है कि यद्यपि परंपरा से सभी देवता संसार से छुड़ाते हैं तथापि शिव तो साक्षात् ही उससे छुड़ाने वाले हैं। शिव इस संसारवृक्ष की जड़ की जगह हैं और जिस प्रकार जड़ में पानी देने से डालियों पर फूल लग जाते हैं उसी प्रकार शिवध्यान द्वारा सभी देवता तृप्त हो जाते हैं। इसमें भी नटराजमूर्ति का ध्यान उन्हें अत्यन्त प्रीतिकर है। यही मूर्ति चिदम्बर में स्थापित होने से चिदम्बर क्षेत्र की इतनी विशेषता है। इसी प्रकार उमामहेश्वर मूर्ति भी जीव का कल्याण करने वाली है। गुरु और वेदार्थ की कृपा से यदि सब चीजों में ब्रह्म की भावना हो जाये तो एक घड़ी भी इस स्थिति में रहने वाले के

सारे पाप छूट जाते हैं। गुरु के बताये तरीके से यदि छह घण्टे कला-सहित ब्रह्म का चिन्तन किया जाये तो उस ध्यान के फलस्वरूप बुद्धिपूर्वक किये पापों से मुक्ति हो जाती है। भगवान् शङ्कर का पार्वती-सहित तीन आँखों वाले रूप का मुहूर्तभर चिन्तन करने से भी पापों से छूट जाता है। इसी प्रकार दिन-रात सात दिन तक महाविष्णु की मूर्ति का ध्यान करने से भी पापनिवृत्ति होती है। अन्यत्र पुराणों में बताया है कि यदि थोड़ा समय भी बिना ध्यान किये बीत जाये तो इतना कष्ट होना चाहिये जितना डाकुओं द्वारा धन छीन लिये जाने पर होता है। इस दुःख से रोते हुए छटपटाना चाहिये। भगवान् शङ्कर ही कारणों के परमकारण हैं अर्थात् वे सबके कारण हैं और उनका कारण कुछ भी नहीं। सारे ऐश्वर्यों से सम्पन्न – इस प्रकार शिवध्यान दहराकाश में मुमुक्षुओं के लिये आवश्यक है।

सर्वेश्वर भगवान् शङ्कर में उनके स्वरूप को समझकर भक्ति तभी उत्पन्न होती है जब अनेक जन्मों तक पापों से रहित जीवन व्यतीत किया जाता है। शिव की कृपा पाने का साधन धर्म है। धर्म वेदप्रतिपादित है। धर्म के अभ्यास से सुख-दुःख, जय-पराजय, लाभ-हानि इत्यादि द्वन्द्वों में समता का भाव आ जाता है। समता के भाव वाले की ही शिव में भक्ति होती है। शिवकृपा से ही कर्म व कर्मफल का त्याग संभव होता है। इसके फलस्वरूप संसार में दोषदृष्टि बनती है जो वैराग्य को उत्पन्न करती है। वैराग्य से भावना शुद्ध हो जाने पर मनुष्य की ध्यान में निष्ठा बनती है, कर्म में नहीं। ज्ञान और ध्यान का साथ-साथ अभ्यास करने वाला योग को प्राप्त करता है, योग से पराभक्ति एवं उससे शिव की निरतिशय कृपा जो ब्रह्मज्ञानस्वरूप है। ब्रह्मज्ञान द्वारा मुक्त होकर शिवरूप हो जाता है। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुरुष, स्त्री, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी–सबका अधिकार है। इसलिये सभी को 'ॐ नमः शिवाय' का जप करते हुए शिवध्यान में लगना चाहिये।

जो व्यक्ति पूरी तरह से जपयज्ञ करता है वह बाद में ध्यानयज्ञ में लगने की योग्यता वाला होकर उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से शीघ्र ही ज्ञान प्राप्त कर वह शिवसायुज्य भी पा लेता है। जिसमें ध्यान व ज्ञान प्रतिष्ठित है वह संसारसमुद्र से पार हो चुका है। ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यानप्रयोजन जानकर ध्यान में

लगना चाहिये। जो व्यक्ति ज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा, क्षमा, निर्ममता और उत्साह से सम्पन्न होता है वही उत्तम ध्याता है। जप से थकने पर ध्यान करे और ध्यान से थकने पर पुनः जप प्रारम्भ करे। ऐसा करने पर सिद्धि प्राप्त होती है। बारह याम पर्यन्त वृत्ति की एकाग्रता से धारणा सिद्ध होती है, धारणाओं से बारह गुणा ध्यान है और ध्यान से बारह गुणा समाधि कही गयी है। समाधि से सभी चीज़ों में प्रज्ञा का आलोक हो जाता है। आलस्य, बीमारी, प्रमाद, संशय, चित्त की अस्थिरता, अभ्यास में रति न होना, विपरीत बुद्धि, शरीर से होने वाला दुःख, बिजली अस्त्र जहर आदि से होने वाला दुःख, राग-द्वेषादि से होने वाला दुःख, इच्छा पूर्ण न होने से होने वाला अनमनापन, भिन्न-भिन्न विषयों में मन की चंचलता–ये दस ध्यान में रुकावट करने वाले कहे गये हैं। इन सबको विजय कर ध्यान में लगा रहे तो सूक्ष्म, आड़ में, दूर और भविष्य की बातों को जानने की सामर्थ्य आ जाती है जिसे प्रतिभा कहते हैं। इसी प्रकार बिना प्रयत्न के ही कहीं भी होने वाली बातों को सुनने की सामर्थ्य आ जाती है जिसे श्रवण कहते हैं। सब लोगों की बुद्धियों में होने वाली बातें जानने की सामर्थ्य आ जाती है जिसे वार्ता कहते हैं। बिना ही प्रयत्न के दिव्य पुरुषों और दिव्य लोकों का ज्ञान हो जाता है जिसे दर्शन कहते हैं। इसी प्रकार दिव्य रसों का स्वाद भी आ जाता है और स्पर्श भी हो जाता है। इन छह अनुभवों से आगे दिव्य सुगन्ध का ज्ञान, ब्रह्मलोक-पर्यन्त जो रत्न, वाहन आदि हैं वे भी उसे उपलब्ध हो जाते हैं। इच्छानुसार भाँति-भाँति की मधुर वाणी बोलने लगता है, सभी दिव्य रसायन और औषधियाँ इसके पास देवियाँ लाकर समर्पित करती हैं। इन सिद्धियों से मोक्षमार्ग में और अधिक निश्चयपूर्वक लग जाता है। ध्यान के समान न कोई तीर्थ है, न तप, न यज्ञ। परमेश्वर का श्रद्धापूर्वक क्षणमात्र भी ध्यान करने से अत्यन्त कल्याण होता है और बड़े-बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं। पराशरोपपुराण में कहा है 'सनातन शिव में ही सारे शास्त्रों का तात्पर्य है। वह सारे विश्व से अतीत है, जगदीश्वर है, संसार से छुड़ाने वाला है। अतः ब्राह्ममुहूर्त में उठकर त्रिनेत्र शिव का एकाग्र हो ध्यान करे और तब कर्तव्य धर्म एवं अर्थ को सोचे।' वहीं यह भी कहा है–'सभी का साक्षी शिव है। उनकी साक्षात् परापर मूर्ति शुद्ध, स्वतन्त्र

और पाप नष्ट करने वाली है। वही चन्द्रार्धशेखर, नीलकण्ठ व विरूपाक्ष रूप में ब्रह्मा व विष्णु द्वारा भी ध्येय है।

पतञ्जलि ने भी ईश्वरध्यान में स्थित हुए को ही ईश्वर द्वारा अनुग्राह्य बताया है। व्यासभाष्य में 'ईश्वरप्रणिधानात्' का अर्थ करते हुए भक्तिविशेष से प्रसन्न ईश्वर को अनुग्रह करने वाला बताया है और केवल ईश्वरध्यान से भी समाधि एवं समाधिफल की प्राप्ति बतायी है।

सूतसंहिता के शिवमाहात्म्यखण्ड में बतलाया है कि अग्निहोत्र से उत्पन्न भस्म लेकर 'ॐ आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम्' मन्त्र से जलाध्यक्ष विष्णु का भक्तिपूर्वक ध्यानकर जल मिलाकर जाबाल शाखा में बताये 'ॐ अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म सर्वँ ह वा इदं भस्म मन एतानि चक्षूंषि' मन्त्र से सिर से पैर तक सफेद भस्म से लेपकर फिर ललाट, हृदय, कुक्षि और दोनों भुजाओं पर 'मानस्तोके तनये मान आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः, मानो वीरान् रुद्र भामिनो-वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे' मन्त्र से त्रिपुण्ड्र धारण करे। इसके बाद हृदयकमल में सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सबके अधिष्ठान परमेश्वर का ध्यान करे। इस प्रकार जो ध्यान करते हैं उन्हें शाश्वत शान्ति की प्राप्ति होती है। यह बात कूर्मपुराण के इकतालीसवें अध्याय में, सौरसंहिता के तीसरे अध्याय में, सूतसंहिता के मुक्तिखण्ड तथा यज्ञवैभवखण्ड में बतायी है। वहाँ यह भी कहा है कि अरूप शिव की भी मूर्ति का ध्यान भी उपासक को करना चाहिये। अर्धनारीश्वररूप, तीन नेत्रवाली, चन्द्रशेखर, नीलकण्ठ, ताण्डव नृत्य करने वाली मूर्ति परामूर्ति है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर—इन तीनों मूर्तियों का भी शिव ही परमकारण है। जैसे जमा हुआ और पिघला हुआ घी होता है वैसे सच्चिदानन्दरूप व शिवरूप है। पराशरोपपुराण में एक हाथ में वर और दूसरे में अभय मुद्रा को धारण किये हुए त्रिनेत्र रूप का ध्यान बताया है। सौरसंहिता और वासिष्ठलैङ्ग में स्वात्मतत्त्व, सुखस्फूर्तिरूप साक्षी का ध्यान भी बताया है। पराशरोपपुराण में ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर को भी साम्ब चन्द्रार्धशेखर मूर्ति का ध्यान करते हुए बताया है।

यद्यपि भ्रूमध्यादि सभी चक्रों में ध्यान बताया है तथापि हृदयकमल में ही परमेश्वर का सबसे अधिक प्राकट्य होता है अतः वहीं परमेश्वर की उपासना सबसे अधिक प्रशस्त है। वर्तमान काल में रमण महर्षि ने इस बात पर काफी प्रकाश डाला है। गीता में भी ईश्वर को हृदयदेश में रहने वाला कहा है। वेदों में 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्', 'यो वेद निहितं गुहायाम्', 'गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम', 'अविः सन्निहितं गुहाचरं नाम' इत्यादि द्वारा हृदयगुहा की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। शैवपुराण की एकादशरुद्रसंहिता में जैमिनि के प्रश्न पर व्यासजी ने उत्तर दिया है कि जो सच्चिदानन्द ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण है वह इन्द्रियों का अविषय होने से प्रतीत नहीं होता परंतु मनुष्य शरीर में हृदयकमल में प्रकट हो जाता है। इसीलिए उसे ब्रह्म का घर कहा गया है। आकाश के समानरूप होने से उसे आकाश नाम से भी कहा जाता है। हृदय में ध्यान करने पर उसका अपरोक्ष दर्शन होता है इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। आगे चलकर युक्ति का प्रतिपादन करते हुए महर्षि व्यास ने कहा है कि जैसे आत्मा सारे शरीर में होने पर भी 'मैं' शब्द से कहा जाने वाला आत्मा हृदय में ही स्पष्ट प्रतीत होता है इस विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है, वैसे ही हृदयपुण्डरीक में परमेश्वर विशेषरूप से प्रतीत होता है।'मैं' शब्द का प्रयोग करते हुए सभी हृदय का निर्देश करते हैं इससे स्पष्ट हो जाता है कि मैं शब्द का लक्ष्य परमशिव वहीं स्थित है। छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कैवल्यादि श्रुतियों में भी हृदय पुण्डरीक में परमेश्वर की उपासना बतायी है। छान्दोग्य में इस उपासना के सिद्ध होने पर सभी कामनाओं की पूर्णता एवं सभी लोकों में इच्छानुसार विचरण की सामर्थ्य बतायी है। तैत्तिरीय के तीसरे अनुवाक में 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' इत्यादि मंत्र द्वारा उपास्य स्वरूप का प्रतिपादन किया है। कैवल्य में इसके अंगरूप से पवित्र देश में सुखासन से बैठकर पवित्र हो मेरुदण्ड को सीधा रख ध्यान करने को कहा है। 'नीलकण्ठं प्रशान्तम्' इत्यादि द्वारा ध्येय स्वरूप का भी वर्णन किया है और अंत में माया से परे, सबके साक्षी, सारे जगत् के कारण परमशिव की प्राप्ति बतायी है। इन श्रुतियों के तात्पर्य को इतिहास एवं पुराणों में भी विस्तार से बताया है। कैवल्यशाखी लोग हृदयकमल में नटराज मूर्ति का ध्यान करने का प्रतिपादन करते हैं। रुद्र ही वेद के अंत में, मध्य में व आदि में प्रयत्नपूर्वक प्रतिपादित किये गये होने से उपास्य हैं।

ब्रह्मसूत्र में भी 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः' के द्वारा यही प्रतिपादित किया है। भाष्य में स्पष्ट किया है कि छान्दोग्य में हृदयाकाश में सत्यकामादि गुणसमूह बताया है एवं बृहदारण्यक में महान्, अज, आत्मरूप; इन सबको सम्बद्ध कर ही उपासना करनी चाहिये क्योंकि इनका हृदयरूप एक ही आयतन बताया गया है। यद्यपि छान्दोग्य में सगुण और बृहदारण्यक में निर्गुण रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन है तथापि बृहदारण्यक में विभूतिप्रदर्शन के लिये जो गुण हैं उनका छांदोग्य में उपसंहार विरुद्ध नहीं है क्योंकि ब्रह्म एक ही है। इसी प्रकार छान्दोग्य में उपास्य रूप से बताये गुणों का बृहदारण्यक में विभूति के साथ पाठ कर निर्गुणविद्या में भी उपसंहार करना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि निर्गुण में सगुण का संग्रह केवल स्तुत्यर्थ होता है इसलिए जैसा है वैसा ही स्वीकार कर लिया जाता है। परन्तु उपासना विधिबोधित होने से वशित्वादि गुणों का सत्यकामत्वादि गुणों में समाहार करके ही उपासना करनी चाहिये। वशित्वादि के बिना सत्यकामत्वादि हो नहीं सकते–इस प्रकार सत्यकामत्वादि के अंतर्भूत वशित्वादि का चिंतन हो जाता है। इसी रीति से सभी उपनिषदों में समझना चाहिये। इस प्रकार पुराणवचन और ब्रह्मसूत्रों के न्यायों से समुच्चय कर उपासना की सिद्धि होती है।

तैत्तिरीय में नारायण की उपासना भी बतायी गयी है फिर शिव की ही उपास्यता दहरविद्या में क्यों मानी गयी है ?– यह प्रश्न स्वभावतः उठता है। पुराणों में इसका समाधान दिया है कि नारायण का प्रतिपादन उपासक रूप से है। सौरसंहिता में कहा है कि उमापति का ध्यान करने वाले साक्षात् नारायण हैं। शिव आनन्दस्वरूप हैं एवं परमेष्ठी ब्रह्मा, नारायण व रुद्र के भी ध्येय हैं, अन्यों की तो बात ही क्या ? वे अणु से अणुतम हैं और बृहत् से बृहत्तम। प्रणव द्वारा ही उनकी पूजा करनी चाहिये। इन पुराणवचनों का विस्तार से विचार करने से यह पता चलता है कि पुराण के अनुसार ब्रह्मा, नारायण और रुद्र का ही परमशिव के ध्यान में साक्षाद् अधिकार है। इस प्रकार जो कोई हृदयकमल में शिव का ध्यान करता है वह सर्वप्रथम अपने आपकी सहस्रशीर्षत्वादि गुणों से युक्त नारायणरूप से भावना करे। फिर नारायणरूप से विद्यमान जो अपना रूप उसके हृदयकमल में प्रकाश से जगमगाते हुए शिवरूप का ध्यान करे और तब

शिव का ही अपने आपसे अभेदचिन्तन करे । तैत्तिरीय का 'सहस्रशीर्षं देवम्' आदि नारायणानुवाक इसी में प्रमाण है । अथवा उपासक अपने हृदय में सहस्रशीर्ष देवादिरूप से नारायण का ध्यान करे और फिर वह नारायण मैं हूँ ऐसा ध्यान कर अपने से अभिन्न जो अपना उपास्य नारायण, उसके हृदय में शिव का ध्यान करे । सूतसंहिता में भी इसी प्रकार नारायण रूप से अपना ध्यान कर फिर अपने हृदयकमल में प्राणायाम से विकसित शिवमन्दिर में अष्टैश्वर्य कमलदलों से युक्त ज्ञाननाल में ॐकार से प्रबुद्ध हुई महान् अग्नि को सर्वत्र जलता हुआ देखे । इस ताप से पैर से लेकर अपना मस्तक तप रहा है । उस वह्निशिखा के मध्य में परमकारण, संसाररोगहर, ऊर्ध्वरेता, विरुपाक्ष, नीलग्रीव, महेश्वर का अपने से अभिन्न रूप से ध्यान करे । याज्ञवल्क्य ने योगियाज्ञवल्क्य स्मृति में भी इसी प्रकार से प्रतिपादित किया है । कूर्मपुराण भी इसे पुष्ट करता है । महाभारत के शान्तिपर्व में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बतलाया है 'मैं सभी लोकों का आत्मस्वरूप हूँ अतः मैं अपने आत्मस्वरूप शिव का पूजन करता हूँ । यदि मैं अपने आत्मस्वरूप शिव का पूजन न करूँ तो कोई दूसरा अपने आत्मरूप मुझ नारायण का भी पूजन नहीं करेगा क्योंकि जैसा मैं प्रमाण करता हूँ, सभी लोग उसी के अनुसार चलते हैं ।'

इस उपासना का अधिकारी ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्न, श्रद्धा-भक्ति से युक्त ध्यानाभ्यासी एकान्त देश में, अव्याकुल काल में, उद्वेगरहित, दर्भादि आसन पर बैठा हुआ अन्दर और बाहर दोनों तरफ से पवित्र हो, रीढ़ की हड्डी सीधी किये हुए, भस्मधारणरूप व्रत से अत्याश्रमी, मन-सहित इन्द्रियों का निरोध कर ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा अपने गुरु को देव की तरह अथवा देव से भी अधिक समझकर नमस्कार करे । दहरविद्या निर्गुण व सगुण दोनों साधकों के लिये है । कैवल्योपनिषत् में 'न कर्मणा' इत्यादि द्वारा और तैत्तिरीय में 'संन्यासयोगाद्' इत्यादि द्वारा दहरविद्या में संन्यासी का ही अधिकार बतलाया है । परन्तु विद्यारण्य स्वामी ने सूतसंहिताटीका में स्पष्ट किया है कि संन्यासी की अधिकारिता केवल निर्गुण ब्रह्मविद्या के साधक के लिये है, बाकी सब गुण तो सगुण विद्या के लिये भी अपेक्षित हैं । निर्गुणविद्या से परामृत की प्राप्ति बतायी है और सगुणविद्या से परमेश्वर के अनुग्रह की । इस अनुग्रह से सङ्कल्परहित,

परमानन्दभरित, क्षय-वृद्धिरहित, महेश्वर का साक्षात्कार होता है। इसका भी अंतिम फल अविद्या को निवृत्त करने वाला साक्षात्कार ही प्रतीत होता है।

कुछ लोग मानते हैं कि नारायण से अभिन्न परमेश्वर है ऐसा सोचकर अपने हृदय में शंख चक्र-गदा-पद्म-धारी नारायणरूप परमेश्वर की ही उपासना कर ली जाये तो क्या हानि है ? नारायणरूप भी परमेश्वर है अतः हानि—अर्थात् शास्त्रविरोध—नहीं होनी चाहिये। नारायणरूप परमेश्वर मानने में विरोध कहें तो प्रश्न होता है—किस अंश में विरोध है ? यदि कहें कि परतत्त्वांश में विरोध है तो वह कहना ग़लत है। अद्वितीय परिपूर्ण परमानन्दस्वरूप स्वप्रकाश प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा एक ही है यह वेदसिद्धान्त है। अतः सभी कालों में जीव की भी परमात्मरूपता है। 'तत्त्वमसि' आदि वेदवाक्य भी इसी बात को कहते हैं। 'नारायणपरं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः' से नारायण की ब्रह्मरूपता स्फुट ही है। इसी प्रकार सर्वात्मता या सर्वरूपता में विरोध है यह भी नहीं कह सकते। 'सहस्रशीर्षं...... विश्वाक्षं ..... विश्वात्मानं ....सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' आदि श्रुति से नारायण की सर्वात्मता स्पष्ट रहते सर्वात्मता में विरोध क्योंकर होगा ? जैसे शिव की सर्वात्मता 'सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ...... सर्वगतः शिवः' इत्यादि शास्त्र से सिद्ध है, वैसे ही नारायण की सर्वात्मता में शास्त्र प्रमाण है। दोनों एक जैसे सर्वात्मा हैं। विश्वाधिक अर्थात् विश्वातीत अंश में भी विरोध की शंका नहीं की जा सकती क्योंकि जैसे वेद में 'विश्वाधिको रुद्रः' कहा है वैसे ही 'विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्' भी कहा है, अतः दोनों ही विश्वातीत हैं। सर्वकारणतांश में भी विरोध नहीं कहा जा सकता, कारण कि जैसे अथर्वशिखा, अथर्वशिर, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में शिव को सर्वकारण, सर्वान्तर्यामी, सर्वसंहर्ता आदि रूप में प्रतिपादित किया है वैसे नारायण, सुबाल, आत्मप्रबोध आदि उपनिषदों में नारायण को प्रतिपादित किया हैं। यदि कहा जाये कि लीलाविग्रहमूर्तियों में भेद होने से लीलाविग्रहरूप मूर्त्यंश में विरोध है, तो वह भी कहना संगत न होगा क्योंकि नृसिंहतापनीयोपनिषत् में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—तीनों मूर्तियों का अभेद बताया है।

यद्यपि यों विरोध का परिहार करने की कोशिश की जा सकती है तथापि यहाँ पर 'ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षम्' इन दो विशेषणों से एवं अन्य श्रुतियों में प्रतिपादित उमासहायत्वादि गुणों के उपसंहार से नृसिंहतापनीय में कहा एकत्व यहाँ विवक्षित नहीं यही मानना उचित है। सम्प्रदायान्तर होने पर भी भट्ट भास्कर ने भी 'ऊर्ध्वरेतम्' आदि की ऐसी ही व्याख्या की है।

यदि कहा जाये कि भगवान् भाष्यकार ने शिवध्येयता नहीं कही है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि उन्होंने तत्तत् सम्बन्धित स्थलों पर प्रकाश डाला ही है। 'अन्तरुपपत्तेः' सूत्रभाष्य में परमेश्वर की उपास्यता बतायी है। वहाँ शंका उठायी है कि उपकोसलविद्या में आँख में प्रतिबिम्ब को उपास्य रूप से बताया है, अथवा किसी देवता को, या जीव को और या ईश्वर को ? सिद्धान्त में परमशिववाचक ईश्वरशब्द का ही प्रयोग किया है। इसी प्रकार अनेक सगुण तथा निर्गुण विद्याओं में भाष्य में परमेश्वरशब्द का प्रयोग कर परमशिव की ध्येयता को प्रतिपादित किया है।

यह भी नहीं कह सकते कि आचार्य ने परमशिव को दहरविद्या का विषय नहीं कहा, क्योंकि 'दहर उत्तरेभ्यः' अधिकरण में संशयदशा में भूताकाश, जीव और परमात्मा की संभावनाओं को कहकर जवाब देते हुए परमात्मशब्द छोड़कर 'परमेश्वर ही दहराकाश है' इस प्रकार कहा है। 'उमासहायं परमेश्वरम्' इस श्रुति द्वारा दहरविद्या में उमासहायशब्द के सामानाधिकरण्य से परमेश्वरशब्द शिववाचक ही मानना पड़ेगा। भाष्य में उत्तमाधिकारी को 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म' इत्यादि वाक्यार्थज्ञान के समय में ही उपास्यसाक्षात्कार हो जाता है अतः आचार्य सत्यकामत्वादिगुणों का उपसंहार भी अनादर की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु मध्यमाधिकारी के लिये जैसे सत्यकामत्वादि, वशित्वादि शाखान्तरीय गुणों के उपसंहार को स्वीकार किया है वैसे ही उमासहायत्वादि गुणों का भी उपसंहार करना आवश्यक है। शास्त्रोक्त गुणों से युक्त उपासना से अन्तकाल में उपास्य सगुणब्रह्म का साक्षात्कार होता है यह शास्त्रप्रामाण्य से स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार गुणोपसंहारन्याय को बताते हुए दहरविद्या की विषयता परमेश्वर में बतायी है।

यह भी नहीं कह सकते कि भाष्यकार ने लीलाविग्रहरूप का प्रतिपादन नहीं किया, कारण कि 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशाद्' अधिकरण में यह स्पष्ट प्रतिपादित है कि परमेश्वर भी अपनी इच्छा से साधकों पर अनुग्रह करने के लिये मायामय रूप धारण करते हैं। जहाँ सारे गुणों से रहित परमेश्वर के रूप का प्रतिपादन करना होता है वहाँ 'अशब्दमस्पर्शम्' आदि वाक्यों का विनियोग है। क्योंकि वे सर्वकारण हैं इसलिये किसी विकारधर्म से विशिष्ट परमेश्वर का उपास्य रूप से निर्देश किया जाता है जैसे 'सर्वकर्मा' आदि। इसी प्रकार सोने की मूँछ वाला आदि रूप का भी ध्यान के लिये उपयोग होगा। ऐसा भाष्यकार ने स्वीकार किया है। वैश्वानराधिकरण में भी कहा है कि सर्वव्यापक परमेश्वर की भी उपासकों के लिये बित्तेमात्र हृदयादिस्थलों में अभिव्यक्ति हो जाती है।

वस्तुतस्तु नारायणरूप परमेश्वर की उपास्यता का उपपादन करते हुए जो विकल्प उठाये थे वे भी विचारसहिष्णु नहीं हैं। यद्यपि प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा की एकता निर्विवाद है तथापि जिस प्रकार जीव परमेश्वर से अभिन्न होने पर भी जीवरूप परमात्मतया उपास्य नहीं उसी प्रकार नारायण की परमशिव से पारमार्थिक एकता होने पर भी उस रूप में दहरविद्या की उपास्यता नहीं है। तैत्तिरीय में उन्नीसवीं ऋचा में 'यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद् विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः' द्वारा स्पष्टतः विश्वाधिक रुद्र रूप का निरूपण कर बीसवीं ऋचा में उसी रूप को 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्' से सबसे परे बताकर इक्कीसवीं ऋचा में 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादि से अधिकारी का निरूपण किया। बाइसवीं ऋचा में 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' आदि द्वारा अधिकार तथा द्वितीयार्ध में 'ब्रह्मलोके तु' आदि से फल बताकर तेइसवीं में 'दह्रं विपापम्' द्वारा दहरविद्या का उपदेश है। इस अनुवाक की अंतिम अर्थात् चौबीसवीं ऋचा में 'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः' आदि द्वारा ॐकार से उसका निरूपण कर अकार-उकार-मकार से प्रतिपादित विराड्-हिरण्यगर्भ-अव्याकृत को क्रम से लीन करते हुए इन तीनों मात्राओं के जो परे है उसे महेश्वर बताया। इस प्रकार दसवें अनुवाक में कहीं भी नारायण का वर्णन नहीं आया है। वस्तुतस्तु 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' तक तत्त्वनिरूपण है और तत्त्वज्ञान में जो असमर्थ हैं उनके लिये 'दह्रं विपापम्' से दहरविद्या का प्रारम्भ है। ग्यारहवें अनुवाक का प्रारंभ 'विश्वाक्षं विश्वशम्भुवम्'

और 'विश्व नारायणम्' से होता है परन्तु आगे ही 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्' द्वारा उपोद्बलित होने से शिव का ही परामर्श प्रतीत होता है । दहरविद्या की समाप्ति में 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्' में स्पष्ट ही–'विरूपाक्षम्', 'ऊर्ध्वरेतम्' तथा 'कृष्णपिङ्गलम्' द्वारा साम्ब सदाशिव का प्रतिपादन किया गया है । यहाँ सायणाचार्य ने स्पष्ट ही हिरण्यगर्भादि रूप को व्यावहारिक सत्य और स्वभक्तानुग्रहार्थ उमामहेश्वरात्मक पूर्णरूप को अत्यन्त सत्य बताया है । इस प्रकार पारमार्थिक रूप से नारायण की ब्रह्मरूपता होने पर भी यहाँ उसकी उपास्यरूपता नहीं बनती है ।

सर्वरूपता का प्रतिपादन करने वाला 'यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥'–यह वाक्य है । इस पाँचवी ऋचा में यद्यपि जो देखा व सुना जाता है अर्थात् माया का कार्य है उसमें नारायण को व्यापक बताया है तथापि अव्याकृत या कारण में उसकी व्यापकता का प्रतिपादन नहीं है ।

यद्यपि 'विश्वतः परमं नित्यम्' में नारायण को विश्वाधिक बताया प्रतीत होता है तथापि श्वेताश्वतर में 'ततो यदुत्तरतरं तदरूपम्' द्वारा शिवतत्त्व को विश्व से जो परे है उससे भी परे बताया है (ततः = विश्व से, उत्तर = परम, तर = उससे भी परे) । अतः आचार्य सायण ने 'विश्वतः परमं नित्यम्' का अर्थ करते हुए स्पष्ट कहा है 'विश्वतः जगतो जडवर्गात् परममुत्कृष्टम्' अर्थात् कार्य से अधिक होने पर भी कारण से श्रेष्ठ है ऐसा नहीं । भगवान् शिव कारण से भी परे हैं । इसलिये नारायण का विश्वाधिकत्व सापेक्ष ही मानना पड़ता है ।

नारायण को कहीं कहीं जगत् का कारण बताया है परन्तु जगत्-कारण का ही निर्णय करने के लिये प्रवृत्त श्वेताश्वतरोपनिषत् में स्पष्टः शिव को ही सबका कारण कहा है; 'यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयं धर्मावहं पापनुदं भगेशम्' । नारायणोपनिषत् में 'नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेय' से नारायण की कारणता बतायी है परंतु उस उपनिषद् में मन्त्रोपासना की फलश्रुति में 'वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनम्' द्वारा जहाँ अंतःकरण के कारण विज्ञानघन परमात्मा प्रकट होता है उस हृदयपुण्डरीक को ही वैकुण्ठभुवन कहा

है। उस पुण्डरीकरूप नारायण से अभिन्न वैकुण्ठभुवन में व्योमरूप शिव के ध्यान का दहरविद्या में प्रतिपादन किया है। सुबालोपनिषद् में सृष्टिकर्ता को मुखतः खण्डपरशु कहा है जो कोशों में शिव का नाम ही प्रसिद्ध है। आत्मप्रबोधोपनिषत् में ब्रह्मपुर पुण्डरीक का वर्णन होने पर भी वहाँ सृष्टिप्रक्रिया भी नहीं है और तडिदाभमात्रदीपवत् प्रकाश वाले पुण्डरीक का वर्णन है, अतः उसका दहरविद्या से सम्बन्ध बनता नहीं। शरभोपनिषत् में स्पष्ट प्रश्न है कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र–इन तीनों में कौन अधिकतर ध्येय है ? इसके उत्तर में कहा है 'पितरं महेशं ममाऽपि विष्णोर्जनकं देवमीड्यं योऽन्तकाले सर्वाँल्लोकान् संजहार' अर्थात् ब्रह्मा और विष्णु को भी उत्पन्न करने वाले महेश हैं जो अन्तकाल में सबके संहर्ता हैं, वे ही सर्वोत्तम ध्येय हैं। इस प्रकार उपनिषदों में सर्वकारणता का प्रतिपादन शिवविषयक ही है।

इसके बाद ग्रंथकार ब्रह्मविद्यार्थी के संन्यास का विचार करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि शम आदि की तरह संन्यास भी साधन है। उपदेशपञ्चक में भी 'कर्माशु सन्त्यज्यताम्' कहा ही है। पर उत्तमाधिकारी के लिये ही निर्गुणब्रह्मविद्या के साधन रूप से आचार्य को संन्यास की अनिवार्यता इष्ट है। उपदेशपञ्चक में 'अथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्' द्वारा उत्तमाधिकारी में उपसंहार कर यह स्पष्ट किया है। मध्यमाधिकारी के प्रति तो कर्मसमुच्चित उपासना ही आचार्य ने बतायी है। प्रश्नोत्तररत्नमालिका में एक पाठ 'सम्यग्ज्ञानं क्रियासहितम्' मिलता है जिसमें मोक्षवृक्ष का बीज क्रियायुक्त सम्यग् ज्ञान कहा है। क्योंकि क्रियासमुच्चित ज्ञान उपासनात्मक के अतिरिक्त संभव व आचार्य को अभिमत नहीं इसलिये यहाँ ज्ञानपद उपासनार्थक है। वस्तुतस्तु 'सम्यग्ज्ञानं क्रियासिद्धम्' पठ संगत व प्रसिद्ध है। मध्यमाधिकारी का प्रतिपादन करते हुए अग्निहोत्राधिकरण में मोक्ष की कर्मकार्यता का आराद् उपकारकतया समर्थन कर ज्ञान की प्राप्ति कराने वाला होने से कर्म मोक्ष का कारण है यह स्पष्ट कहा है। क्योंकि सगुणविद्या में कर्तृत्व की निवृत्ति नहीं होती इसलिये उसके साथ

कर्मसमुच्चय संभव है । इस प्रकार निर्गुणोपासक मुख्याधिकारी संन्यासी होगा जबकि सगुणोपासक गृहस्थ भी हो सकता है ।

उपासक को अपनी नारायणरूपता का ध्यान करना है; इसमें महानारायण का 'सहस्रशीर्षम्' से 'पद्मकोशप्रतीकाशम्' पर्यन्त ग्रंथ विनियुक्त हो जायेगा । फिर 'पद्मकोशप्रतीकाशम्' से 'परमात्मा व्यवस्थितः' तक हृदय का प्रतिपादन किया गया है । उसके बाद नारायण के हृदय में परमशिव का ध्यान करने के लिये 'ऋतं सत्यम्' आदि अनुवाक है । अपने नारायण रूप के शरीर के भीतर नाभि से ऊपर बारह अंगुल सीमित देश में नीचे मुख किये हुए खुले कमल को– चारों तरफ नाडियों द्वारा घिरा होने से जो लम्बायमान प्रतीत होता है–यहाँ हृदय कहा है । उसमें अत्यन्त सूक्ष्म आकाश है । उसी आकाश में परब्रह्म निश्चल रूप से रहता है । वहीं से महान् वैश्वानराग्नि जलती हुई सर्वत्र फैलकर खाये हुए अन्न को जीर्ण करती है और वह्निसामान्य रूप धारणकर सिर से पैर तक शरीर गर्म रखती है । इस प्रकार 'पद्मकोशप्रतीकाशम्' से 'व्यवस्थितः' तक के ग्रंथ में जिसका निरूपण है वह सबके शरीर में विद्यमान है यह शास्त्रप्रामाण्य से निश्चित होता है । उपासनाकाल में उपासक को झुके हुए हृदयपुण्डरीक को ऊपर की ओर मुख किये हुए केवल भावना से देखना है । बाकी सब जैसा है वैसा ही सोचना है । वह परमात्मा प्रणव का वाच्य है एवं साधक की योग्यतानुसार निर्गुण या सगुण लीलाविग्रहमूर्ति वाला है । ध्येय के स्वरूप में ऋत अर्थात् अपरिणामी और सत्य अर्थात् बाधशून्य अपरब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भादि से उत्कृष्ट सभी पुरियों में रहने वाला, भूख-प्यास-पाप-बुढ़ापा-मृत्यु-शोक से रहित, निर्मल, अंतःकरणवृत्ति का अविषय, शब्दादि समस्त विशेषों से रहित, एक, व्यापक, स्वप्रकाश, निरतिशय आनन्दरूप शिव है । ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने पर जिस-जिस उपासक की जो-जो इच्छा हो–चाहे वह पिता, पत्नी आदि की हो या घर, बगीचे आदि की अथवा अणिमादि की–वह पूरी हो जाती है । यदि सगुण ध्यान किया जाये तो कृष्णपिङ्गल द्वारा साम्ब मूर्ति का ध्यान किया जा सकता है जिसमें दाहिना भाग गोरा व बायाँ श्याम है । अथवा केवल शिवमूर्ति का ध्यान किया जा सकता है क्योंकि उसमें कण्ठ काला और बाकी शरीर–विशेषकर ललाट–पिङ्गल रूप का है । वे धर्म, ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न हैं, तपे हुए सोने

की तरह चमकदार हैं, उनके अंग भस्म से उद्धूलित हैं, त्रिपुण्ड्र लगा है, रुद्राक्षमालाओं के आभरण हैं और हमेशा आत्मध्यान में लगे हैं। उनकी जटा मुकुट है, तीन आँखें हैं, दुःखसंस्काररहित व आनन्दपूर्ण हृदय है, मुख पर मुस्कान है एवं ॐकार की सहायता से उनका ध्यान किया जाता है। साम्ब मूर्ति में तो वामभाग में उमा विद्यमान हैं ही। सोम, सूर्य, अग्नि उनके तीन नेत्र हैं। जो समझ न आ सके ऐसा आश्चर्यजनक उनका रूप है क्योंकि अविद्या और उसके कार्य से रहित होने पर ईशित्वादि कैसे ? या अरूप होने पर त्रिलोचनत्व कैसे ? एक होने पर विश्वरूपता कैसे ? उमा के साथ होने पर ऊर्ध्वरेतस्ता कैसे ? विग्रह वाला होने पर बुढ़ापे आदि से रहित कैसे ? इत्यादि विरोधों का परिहार असंभव है। श्रुति के कथन से ही स्वभाव से एकत्व, अरूपत्व आदि और मायिकता से वशित्व आदि सब उपपन्न कर लेना पड़ता है। 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' सूत्र द्वारा व्यासजी ने यही बतलाया है। इसके भाष्य में स्पष्ट ही कहा है कि ब्रह्म को श्रुत्युक्त प्रकार से कारण मानने पर सर्वज्ञ सर्वशक्ति महामायी ब्रह्म के विषय में सभी कारणधर्म उपपन्न हो जाते हैं और इस औपनिषद दर्शन के विषय में अतिशङ्का नहीं करनी चाहिये।

दहरविद्या की उपासना में अंगरूप से 'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्त्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि'–इस मन्त्र का मननपूर्वक जप भी विहित है। स्वतन्त्र रूप से भी इस मन्त्र का जप अन्तःकरण की शुद्धि करता है और ध्यानकाल में भी इसका सार्थ विचार किया जाना चाहिये। ब्रह्म को श्याम कहा जाता है क्योंकि हृदय में मन को एकाग्रकर अत्यन्त कठिनता से इसका साक्षात्कार किया जाता है। ध्यान द्वारा उसे जानकर फिर उस ब्रह्मलोक की प्राप्ति का मन से ध्यान करे जहाँ अर-ण्य इत्यादि अनेक चीजें हैं और अनेक प्रकार की कामनाओं की पूर्ति होती है। मरने के बाद हम उसे प्राप्त करना चाहते हैं। क्योंकि हम शबल–अर्थात् अर-ण्य आदि अनेक चीजों से युक्त–ब्रह्म से नामरूप को प्रकट करने के लिये हृदय (अन्तःकरण) से एक हुए हैं इसलिए उसी अपनी प्रकृति की शरण लेते हैं। उसकी प्राप्ति का प्रकार वैसा ही है जैसे घोड़ा अपने आपको हिलाकर रोयों में लगे बालू आदि को झाड़कर निर्मल हो जाता है।

हम भी हृदय में ब्रह्म को जानकर धर्माधर्मरूप पाप को झाड़ देते हैं। अथवा जैसे चन्द्रमा राहु के मुख से छूटकर पुनः चमकने लगता है वैसे ही सारे अनर्थों के आश्रयभूत शरीर को छोड़कर ध्यानद्वारा कृतकृत्य होकर जो कर्म से प्राप्त नहीं होता ऐसे नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जायेंगे। 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' के प्रकार से यहाँ देवता से अपनी एकता कर अहंग्रहोपासना करनी है।

इसके आगे फल का विचार किया गया है। तैत्तिरीय आदि चारों उपनिषदों में आपाततः फल की एकरूपता प्रतीत नहीं होती। छान्दोग्य में नाडीमार्ग से सूर्य से उपलक्षित अर्चिरादि मार्ग द्वारा निकलकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति फलरूप से प्रतीत होती है। बृहदारण्यक में 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' से जीवन्मुक्ति फलरूप से प्रतीत होती है। तैत्तिरीय में 'स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु' आदि द्वारा ज्ञान या क्रममुक्ति रूप फल प्रतीत होता है। कैवल्य में 'गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्' द्वारा अज्ञान से असंस्पृष्ट सर्वसाक्षिस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति रूप फल है। मायासंस्पर्श से यहाँ शुद्ध चैतन्य का ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह तो ज्ञान का ही फल संभव है। यहाँ भी 'भूतयोनिम्' और 'समस्तसाक्षिम्' दोनों पद एक साथ ही कहे गये हैं अतः मायासंस्पर्शरहित का तात्पर्य है माया द्वारा जिसको वश नहीं किया जाता वरन् जो सर्वज्ञ, आकाशादि भूतों का व भौतिकों का कारण, जो माया और उसके कार्य को वश में रखता है वह सोपाधिक परमशिवस्वरूपा परमेश्वर की ही ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि विभूतियाँ बतायी गयी हैं। 'स ब्रह्मा स शिवः' आदि में यह स्पष्ट है। बाद में, प्रत्यगात्मरूप से उसी परमशिव के अपरोक्षानुभव से कैवल्य मुक्ति बताने के लिये 'ज्ञात्त्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये' कहकर फल बताया है। तैत्तिरीय में जो ज्ञानरूप फ़ल कहा है वह ज्ञान यदि निर्गुण साक्षात्काररूप है तब तो क्रममुक्ति की दृष्टि से कहा गया है और यदि उपास्य ब्रह्म का ज्ञान है तो उपासक को मृत्यु के समय उपास्यसाक्षात्कार के अभिप्राय से कहा गया है। 'तदोकोग्रज्वलनम्' आदि अधिकरण में उपासक का निश्चित रूप से सुषुम्ना नाडी से प्राणत्याग बताया है। ध्यानाभ्यासी सुषुम्ना में ही अपने इष्ट का दर्शन

करता है। अतः उस समय उपास्यसाक्षात्कार स्वाभाविक है। 'अनुस्मरन्' स्मृति से भी यह स्पष्ट होता है। यदि उपासक और अनुपासक एक ही प्रकार से मृत्यु प्राप्त करें तो उपासना व्यर्थ हो जायेगी। ब्रह्मचर्यरूप साधन वालों को उपासना करने पर सब लोकों में स्वतन्त्र विचरण की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है जो विषयासक्त बुद्धि वालों को नहीं मिलती।

यदि साक्षात्कारपर्यन्त यह उपासना सिद्ध हो जाये तो सायुज्य मुक्ति हो जाती है और यदि उपास्य का साक्षात्कार न हो तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। इसमें भी उपासना की तीव्रता के तारतम्य से सालोक्य, सामीप्य व सारूप्य की प्राप्ति होगी। जगद्व्यापारवर्जाधिकरण में तथा 'विकारावर्ति' आदि सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि सगुणब्रह्म के उपासक को ईश्वरसायुज्य की प्राप्ति होती है। परमेश्वर के निर्गुण व सगुण रूपों में सगुणोपासक निर्गुण को न पाकर, सगुण रूप से रहते हैं। उमासहाय आदि विशिष्ट मूर्ति की अहंग्रहोपासना से जो सगुणब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है वह सगुणसायुज्य पाकर क्रम से निर्गुण शिवभाव प्राप्त कराने वाले निर्गुण-शिवज्ञान को पा लेता है परन्तु जो अशुद्ध चित्त वाला है वह शिवसारूप्य पाकर शिवलोक में अनन्त महाभोगों को भोगकर अंत में शिवकृपा से शुद्ध मन वाला होकर शिवज्ञान प्राप्त करता है। जो तो विष्णु आदि का ध्यान करता है वह विष्णु आदि के लोकों को प्राप्त कर, वहाँ भोग भोगकर शुद्ध ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होता है। अत्यधिक राग वाला तो शिवलोक की प्राप्ति के बाद विष्णुलोक में आकर वहाँ के भोग भोगकर फिर क्रम से प्रजापति, इन्द्र आदि के लोकों में जाकर वहाँ के भोग भोगकर फिर मनुष्यलोक में सत्कुल में उत्पन्न होता है। इस प्रकार जो कृतात्मा अर्थात् शुद्ध अंतःकरण वाले हैं वे ज्ञान पाकर निरतिशय मोक्षरूप परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। अशुद्धान्तःकरण वाले अर्थात् उपासना का अनुष्ठान करते हुए भी जो विषयराग से युक्त हैं उनकी पुनरागति होती है। अविरक्त अमुख्याधिकारी होता है अतः उसके लिये सर्वकर्मसंन्यास हो नहीं सकता। सर्वकर्मसंन्यास के बिना ज्ञाननिष्ठा बनती नहीं। मंदबुद्धि संन्यासी की भी निर्गुण

ब्रह्म में निष्ठा नहीं बनती । ऐसे अनुत्तमाधिकारी संन्यासी के प्रति भाष्यकार विधान करते हैं कि वह सभी कर्मों का परित्याग कर अपने हृदय में ब्रह्म का चिन्तन करे तथा अविरक्त गृहस्थ इन्द्रियों का उपसंहार कर हृदय में ब्रह्मचिन्तन करे ।

कई लोग प्रश्न उठाते हैं कि दरहविद्या बताने वाली श्रुतियों में 'एष आत्माऽपहतपाप्मा', 'ऋतं सत्यम्', 'आदिमध्यान्तविहीनम्' आदि सब निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादित है अतः दहरोपासक को निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति न हो यह असमीचीन है अर्थात् निर्गुण प्राप्ति ही होनी चाहिये । यद्यपि उनकी शंका उचित है तथापि जीव के स्वरूप का अर्थात् त्वम्पदार्थ का शोधन न होने से उपासक सकल प्रपञ्च से विनिर्मुक्त रूप से ब्रह्म की उपासना करने में असमर्थ है जिससे ऐसा उपासक अपहतपाप्मत्व आदि गुण वाले ब्रह्म का ही चिन्तन करता है । गुण क्योंकि गुणी के बिना नहीं हो सकते इसलिये गुणों की स्वतन्त्र रूप से उपासना असम्भव होने से आत्मा या परब्रह्म पदों का ग्रहण किया जाता है । वस्तुतस्तु दहरोपासना में गुण प्रधान होता है, गुणी आधाररूप से गौण होकर रहता है । अतः श्रुतिप्रोक्त गुणों से विशिष्ट का ध्यान ज्ञान के लिये या क्रममुक्ति के लिये यहाँ इष्ट है । शिवधर्मोत्तर के दशम अध्याय में ध्यानयज्ञ को सब दोषों से रहित, अन्य यज्ञों में होने वाले हिंसा आदि से रहित, एवं चित्तशुद्धि का साधन बताया है । अतः अशुद्ध बाह्य साधनों से होने वाले स्वर्गादिप्रद यज्ञादि छोड़कर हृदय में स्थित शिव का ध्यान करे । इसी पुराण के तृतीय अध्याय में कहा है कि यम-नियमादिरूप पुष्पों से परमेश्वर का पूजन अन्तर्याग है और यह बहिर्याग से श्रेष्ठ है । जिस प्रकार छोटा दीपक भी घोर अंधकार मिटा देता है उसी प्रकार मुहूर्त भर भी–अड़तालीस मिनट भी–जो परमशिव का ध्यान किया जाता है उससे इतना पुण्य होता है कि यदि श्रद्धा व गुरुभक्ति युक्त एवं ज्ञानयोग की प्राप्ति के लिये यतमान पुरुष उस ध्यान में लगा रहे और फलसिद्धि के पूर्व शरीर छोड़ दे तो वह रुद्रलोक प्राप्त कर वहाँ सुखों का अनुभव करता है व तदनन्तर योगियों के कुल में उत्पन्न होकर ज्ञान पाता व उससे मुक्त हो जाता है । शिवधर्म के प्रथमाध्याय में कहा है कि जो क्षण या मुहूर्त शिवचिन्तन के बिना बीतता है वही सबसे बड़ी हानि है, अज्ञान है, अंधा व गूँगा बनना है । किसी के संग से, कौतुक

से, लोभ या भय से भी भगवान् का कीर्तन या पूजन करने वाला अवश्य रुद्रलोक प्राप्त करता है । आदित्यपुराण के तेंतीसवें अध्याय में कहा है कि दुष्टता से भी जो रोज़ महेश्वर का स्मरण करता है वह भी मरकर शिवलोक प्राप्त करता है । जिसके हृदय में हमेशा शिव रहते हैं उसने अपना कुल पवित्र कर लिया, पितरों का उद्धार कर लिया, और जहाँ पैदा हुआ उस देश को भी पावन बना दिया । मुहूर्तभर भी किया शिवचिन्तन स्थूल-सूक्ष्म नानाविध पापों को नष्ट कर देता है ।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में दहरविद्या के सभी विषयों को संक्षेप में प्रतिपादित कर दिया है । जैसा कि लेखक ने स्वयं कहा है, यज्ञ करने वाले त्र्यम्बक, रामेन्द्र, वरदराज और शङ्करनारायण की प्रार्थना पर उनके कल्याणार्थ उन्होंने इसका निर्माण किया था । श्रीकण्ठभाष्य में भी दहरविद्या पर विचार है और इस उपासना में 'अहम्' की उपासना के कई भेद प्रतिपादित किये हैं । अप्पय दीक्षित के अनुसार श्रीकण्ठ स्वयं दहरोपासक थे । शैवों में यह उपासना प्रचलित रही है । जो वेदान्तशास्त्र को समझकर भी निरन्तर उस विचार में रति नहीं कर पाते उनके लिये इस उपासना का मार्ग श्रेष्ठ है । इसी प्रकार जो गृहस्थ गुरु में श्रद्धा रखकर इस अहंग्रहोपासना को करते हैं उनका भी यह उपासना कल्याण करती है ।

हमारा विश्वास है कि इस ग्रन्थ के मनन से अनेक लोग दहरविद्या में प्रवृत्त होंगे । क्योंकि यह सत्य है कि कोई भी उपासना पूरी तरह निरूपित करना असंभव है इसलिये अंततः गुरु से ही उसे प्राप्त करना पड़ता है । सामान्यतः किसी भी उपासना में रुचि उत्पन्न करने के लिये उसके स्वरूप, प्रकार, फल इत्यादि का ज्ञान कराने में ग्रन्थों का उपयोग हमेशा ही रहेगा । वर्तमान काल में बाह्य यज्ञों के साधनों का अभाव होने से उपासनायज्ञ का महत्त्व और भी बढ़ जाता है । इस ग्रन्थ के पुनर्मुद्रण, सम्पादन व भूमिका, उपोद्घात के प्रेरक हमारे प्रिय स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरि जी रहे हैं । उन पर परमशिव सभी प्रकार का अनुग्रह करेंगे यह हमारा निश्चय है । भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति से प्रार्थना है कि सनातन धर्मावलम्बी इस उपासना का अभ्यास कर अपना कल्याण करें ।

श्रीशङ्कर मठ, आबू पर्वत ।
श्रीव्यासपूर्णिमा, वि. सं. २०४८

भगवत्पादीय
महेशानन्दगिरि

उपोद्घातः

अस्ति तावन्मनुष्याणां दुःखजिहीर्षा सुखप्रापित्सा च स्वाभाविकी। दुःखस्यावास्तवत्वं सुखस्य च वास्तवस्वरूपत्वं विनाऽऽत्यन्तिको दुःखनाशः सुखलाभश्च न सम्भोभूतः। अत एवौपनिषदा 'नेह नाना', 'आनन्दं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्येवमादिश्रुतिभिरेवोक्तं प्रपञ्चमिथ्यात्वं जीवपरमैक्यं च राद्धान्तयन्ति। ततश्च हीनहानमेव दुःखनिवृत्तिर्लब्धलाभश्च सुखप्राप्तिः। तदेतद् द्वयं तत्त्वज्ञानादेव केवलात्सम्भवेद्, लोकेप्येवंनिवृत्तिसम्प्राप्त्योस्तन्मात्रोपायत्वोपलम्भाद्। अत आचार्या आहुः 'अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमविद्याया निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयेष्यत' इति। तत्त्वज्ञानसाधनं च शमादिसहकृतं श्रवणादिकमेव। अथापि प्रायशो भवन्ति साधका मन्दबुद्धयो येषां हि भेदवद्वस्त्वित्येवं निश्चयो न सहसाऽपाकर्तुं शक्यते न वा परमार्थविषया बुद्धिस्तेषां श्रवणादितो भवति। वस्तु च पारमार्थिकमविज्ञाय पुमर्थलाभोऽसम्भवीति तेषु वात्सल्यवती श्रुतिः परमाधिगमायोपायतयोपासनानि विदधाति। अतिधन्यस्य वेदस्यायमत्राभिप्रायः 'सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु ततः शनैः परमार्थसदपि ग्राहयिष्यामि' इतिच्छान्दोग्यभाष्योक्तः। अतएव तैत्तिरीयके 'वेदान्तविज्ञाने' त्यादिना मुख्याधिकारिणं प्रत्युक्त्वा तत्त्वं ज्ञातुमसमर्थस्य कृत उपासनमुक्तं 'दहं विपापमि'त्यादिना। हृदयपुण्डरीकदेशे हीयमर्धनारीश्वरस्योपासना बह्वीषु शाखासु पठ्यमाना पुराणेषु च विस्तरेण विन्यस्ता दहरविद्येत्याख्यया प्रसिद्धा। शाङ्करसम्प्रदायेऽमुष्या अभ्यासं शिष्येभ्यः प्रायो विदधति देशिका इत्यस्या विधानं स्पष्टीकर्तुं श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याः परमशिवेन्द्रसरस्वतीस्वामिनः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणोपन्यासपूर्वकं सरलसरण्या 'दहरविद्याप्रकाशिका'ख्यं प्रकरणं रचयाम्बभूवुः। श्रीपरमशिवेन्द्रसरस्वतीसंयमीन्द्राः काञ्चीमठाचार्याः सदाशिवब्रह्मेन्द्राणां च गुरव इत्यैतिहासिकाः। पुण्यश्लोकमञ्जरीपरिशिष्टे ५७ तमोयमाचार्यो बभूव, १५०८ शकाब्दे

स्वकीयं पार्थिवं देहं तत्याजेत्युक्तम् । ग्रन्थश्चासौ बालमनोरमामुद्रणालयात् १९७२ तमे विक्रमसंवत्सरे प्रकाशितचरोप्यधुना दुष्प्राप्य इति मुमुक्षवोऽत उपासनारीतिं विज्ञाय गुरूपदिष्टमार्गेणाभ्यस्येयुरित्ययं संस्कृत्य पुनः प्रकाश्यते । प्रार्थये चोमारमणं यद् दहरोपासका इहैव तत्प्रसादमवाप्य जीवन्मुक्ता भवेयुरिति ।

भगवत्पादीयो

महेशानन्दगिरिः

ॐ

दहरविद्याप्रकाशिका

नत्वा गणेश्वरं स्कन्दं साम्बं सद्गुरुमेव च ।
दहराख्यपरेशानध्यानरीतिः प्रकाश्यते ॥

अत्र श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणागमेषु परमेश्वरविषय-पूजानमस्कारस्तुत्याद्यपेक्षया तद्ध्याने आदरो दृश्यते । तथा हि ; अथर्वशिखायां–'शिव एको ध्येयश्शिवङ्करस्सर्वमन्यत् परित्यज्य समाप्ताथर्वशिखा' इति । कठवल्लीष्वपि–

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥' इति ।

योगयाज्ञवल्क्यस्मृतौ–

'अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि शृणु गार्गि वरानने ।

ध्यानमेव हि सर्वेषां कारणं बन्धमोक्षणे ॥
ध्यानमात्मस्वरूपस्य वेदनं मनसा खलु ।
सगुणं निर्गुणं चैव सगुणं बहुधा स्मृतम्' ॥ इति ।
'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्' ॥

इति प्रस्तुत्य,

'युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति' ॥

इति भगवद्गीतायाम् ।

सूतसंहितायां यज्ञवैभवखण्डे—

'अथ मोक्षार्थिभिः प्राज्ञैः शिव एकश्शिवंकरः ।
ध्येयस्सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम् ॥
अस्मिन्नर्थे श्रुतिस्साध्वी समाप्ता वेदवित्तमाः' ॥ इति

तत्रैव—

'सोपानक्रमतो देवा नृणां संसारमोचकाः ।
रुद्रस्संसारमग्नानां साक्षात् संसारमोचकः ॥
अतस्सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम् ।
शिव एव सदा ध्येयस्साक्षात् संसारमोचकः ॥

वृक्षस्य मूलसेकेन शाखाः पुष्यन्ति वै यथा ।
शिवध्यानेन देवाश्च तथा तृप्ता भवन्ति हि ' ॥ इति ।

तत्रैव एकत्रिंशाध्याये–

'नृत्यमानस्य देवस्य ध्यानं यत्तु द्विजोत्तमाः ।
देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥
साम्बमूर्तिधरस्यास्य शिवस्य ध्यानमास्तिकाः ।
देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा' ॥ इति ।

तत्रैव द्विचत्वारिंशाध्याये–

'श्रुत्याचार्यप्रसादेन सर्वं ब्रह्मेति भावयन् ।
मुच्यते पातकैस्सर्वैर्घटिकामात्रतो नरः ॥
दिनार्धं सकलं ब्रह्म भावयन् गुरुपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतैस्सर्वैः पातकैर्मुच्यते नरः ॥
विग्रहं परतत्त्वस्य त्रिणेत्रं साम्बमद्भुतम् ।
मुहूर्तं चिन्तयन् मर्त्यो मुच्यते सर्वपातकैः ॥
स्वस्य रूपानुसन्धानान्नृत्यन्तं सर्वकारणम् ।
मुहूर्तं चिन्तयन् मर्त्यो मुच्यते सर्वपातकैः ॥
नृत्यमानं महादेवं साम्बमूर्तिधरं तु वा ।
दिनार्धं चिन्तयन् पापात् प्रसिद्धान्मुच्यतेऽखिलात् ॥
त्रिमूर्तीनां तु रुद्रस्य विग्रहं चिन्तयन् दिनम् ।
महापातकसङ्घैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥

दिनत्रयमभिध्यायन् रुद्रमूर्तिमतन्द्रितः ।
मुच्यते पातकैस्सर्वैः प्रसिद्धैर्नात्र संशयः ॥
विष्णोश्च विग्रहं ध्यायन् मर्त्यश्शुद्धो दिनत्रयम् ।
महापातकसङ्घैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥
सप्तरात्रं महाविष्णोर्विग्रहं चिन्तयन् नरः ।
मुच्यते पातकैस्सर्वैः प्रसिद्धैर्नात्र संशयः' ॥ इति ।

अन्यत्रापि–

'अतोऽयं स शिवो ध्येयः प्राधान्येन शिवङ्करः ।
सर्वमन्यत् परित्यज्य दैवतं परमेश्वरात् ॥
शिखा चाथर्वणी साध्वी सर्ववेदोत्तमोत्तमा ।
अस्मिन्नर्थे समाप्ता सा श्रुतयश्च परा अपि' ॥

ध्यानस्यावश्यकर्तव्यता पुराणान्तरेऽप्युक्ता–

'एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्ते ध्यानवर्जिते ।
दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम्' ॥ इति ।

कौर्मे–

ध्याननिष्ठस्य सततं नश्यते सर्वपातकम् ।
तस्मान्महेश्वरं ज्ञात्वा तद्ध्यानपरमो भवेत्' ॥ इति ।

अन्यत्रापि–

'आरुरुक्षुस्तु सगुणं पूजयेत् परमं शिवम् ।
पिनाकिनं त्रिणयनं जटालं कृत्तिवाससम् ॥

पद्मासनस्थं रुक्माभं चिन्तयेद्वैदिकी श्रुतिः ।
एष योगस्समुद्दिष्टस्स बीजो मुनिपुङ्गवाः ' ॥ इति ।

वायवीयसंहितायाम्–

'तस्मात् सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रपूर्वकम् ।
सह भूतेन्द्रियैस्सर्वैः प्रथमं संप्रसूयते ॥
कारणानां च यो धाता ध्याता परमकारणम् ।
न संप्रसूयतेऽन्यस्मात् कुतश्चन कदाचन ॥
सर्वैश्वर्येण संपन्नो नाम्ना सर्वेश्वरः स्वयम् ।
सर्वैर्मुमुक्षुभिर्ध्येयः शम्भुराकाशमध्यगः' ॥ इति ।

तत्रैव–

'प्रसादसाधनं धर्मस्स तु वेदेन दर्शितः ।
तदभ्यासवशात्साम्यः पूर्वयोः पुण्यपापयोः ॥
साम्यात्प्रसादसंपर्कात् धर्मस्यातिशयस्ततः ।
धर्मस्यातिशयात्सद्यः पशोः पापपरिक्षयः ॥
एवं प्रक्षीणपापस्य बहुजन्मपरिष्कृता ।
साम्बे सर्वेश्वरे भक्तिः ज्ञानपूर्वं प्रजायते ॥
भावानुगुणमीशस्य प्रसादोऽप्यतिरिच्यते ।
प्रसादात्कर्मसंत्यागः फलतो न स्वरूपतः ॥
तस्मात्कर्मफलत्यागात् शिवधर्मान्वयः शुभः ।
स च गुर्वनपेक्षश्च तदपेक्ष इति द्विधा ॥

तत्रानपेक्षात्सापेक्षो मुख्यः शतगुणाधिकः ।
शिवधर्मान्वयस्यास्य शिवज्ञानसमन्वयः ॥
ज्ञानान्वयवशात् पुंसः संसारे दोषदर्शनम् ।
ततो विषयवैराग्यम् वैराग्यात् भावशोधनम् ॥
भावशुद्धिं प्रपन्नस्य ध्याने निष्ठा न कर्मणि ।
ज्ञानध्यानाभियुक्तस्य पुंसो योगः प्रवर्तते ॥
योगेन तु परा भक्तिः प्रसादस्तदनन्तरम् ।
प्रसादान्मुच्यते जन्तुर्मुक्तश्शिवसमो भवेत्' ॥ इति ।

तत्रैव–

'ज्ञानभावानुरूपेण प्रसादेनैव निर्वृतिः ।
तस्मादस्य प्रसादार्थं वाङ्मनोदोषवर्जिताः ॥
ध्यायन्तश्शिवमेवैकं स्वदारतनयान्वयाः' ॥ इति ।

तत्रैव उत्तरभागे–

'ब्रह्मक्षत्रविशां देवि यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
तथैव वानप्रस्थानां गृहस्थानां च सुन्दरि ॥
शूद्राणामथ नारीणां धर्म एष सनातनः ।
ध्येयस्त्वयाहं देवेशि सदा जप्यं षडक्षरम्' ॥ इति ।

तत्रैव–

'जपयज्ञरतो मर्त्यस्तद्वैशिष्ट्यवशादिह ।
ध्यानयज्ञरतो भूत्वा जायते भुवि मानवः ॥

ज्ञानं लब्ध्वाऽचिरादेव शिवसायुज्यमाप्नुयात्' ॥ इति ।
'तस्मात् पञ्चसु यज्ञेषु ध्यानयज्ञरतो भवेत् ।
ध्यानं ज्ञानं च यस्यास्ति तीर्णस्तेन भवार्णवः' ॥ इति च ।
तत्रैव–
'तस्माद्धीरं मनः कुर्याद्धारणाभ्यासयोगतः ।
ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुः शिवचिन्ता मुहुर्मुहुः ॥
अव्याक्षिप्तेन मनसा ध्यानं नाम तदुच्यते ।
ध्येयावस्थितचित्तस्य सदृशः प्रत्ययस्य यः ॥
प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः प्रवाहो ध्यानमुच्यते ।
सर्वमन्यत् परित्यज्य शिव एकश्शिवंकरः ॥
परो ध्येयश्शिवेशेति समाप्ताथर्वणी श्रुतिः ।
सर्वप्रभू शिवौ तस्मात् सर्वगौ सर्वदोदितौ ॥
सर्वज्ञौ सततं ध्येयौ नानारूपविभेदतः ।
विमुक्तेः प्रत्ययः पूर्वः प्रत्ययश्चाणिमादिकः ॥
इत्येतद्द्विविधं ज्ञेयं ध्यानस्यास्य प्रयोजनम् ।
ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं यच्च ध्यानप्रयोजनम् ॥
एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा योगं युञ्जीत योगवित् ।
ज्ञानवैराग्यसंपन्नश्श्रद्दधानः क्षमान्वितः ॥
निर्ममश्च सदोत्साही ध्यातेत्थं पुरुषः स्मृतः ।
जपाच्छ्रान्तः पुनर्ध्यायेत् ध्यानाच्छ्रान्तः पुनर्जपेत् ॥

जपध्यानाभियुक्तस्य क्षिप्रं योगः प्रसिद्ध्यति ।
धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादशधारणम् ॥
ध्यानद्वादशकं यावत् समाधिरिति गीयते ।
समाधिर्नाम योगाङ्गमष्टमं परिकीर्त्यते ॥
समाधिना च सर्वत्र प्रज्ञालोकः प्रवर्तते ।
यदर्थमात्रनिर्भासं स्तिमितोदधिवत् स्थितम् ॥
स्वरूपशून्यवद्ध्यानं तत् समाधिर्विधीयते ।
ध्येये मनस्समावेश्य तिष्ठेदविचलश्चिरम् ॥
निर्वातदीपवद्योगी समाधिस्थः प्रगीयते ।
न शृणोति न चाघ्राति न रंस्यति न पश्यति ॥
न च स्पर्शं विजानाति न सङ्कल्पयते मनः ।
न चाभिमन्यते किञ्चिन्न च बुध्येत काष्ठवत् ॥
एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते ।
यथा दीपो निवातस्थः स्पन्दते न कथञ्चन ॥
तथा समाधिनिष्ठोऽपि तस्मान्न विचलेत् सुधीः ।
एवमप्यस्य तस्याङ्गं योगिनो योगमुत्तमम् ॥
तदन्तराया नश्यन्ति विघ्नाः सर्वे शनैश्शनैः ।
आलस्यं व्याधयस्तीव्रं प्रमादस्थानसंशयाः ॥
अनवस्थितचित्तत्वमश्रद्धा भ्रान्तिदर्शनम् ।
दुःखानि दौर्मनस्यं च विषयेषु च लोलता ॥

दशैते युञ्जतां पुंसामन्तरायाः प्रकीर्तिताः ।
आलस्यमलसत्वं तु योगिनां देहचेतसाम् ॥
धातुवैषम्यजा दोषा व्याधयः कर्मयोगतः ।
प्रमादो नाम योगस्य साधनानामभावता ॥
इदन्नेत्युभयालम्बी ज्ञानं तत् स्थानसंशयः ।
अप्रतिष्ठा हि मनसस्त्वनवस्थितिरुच्यते ॥
अश्रद्धा भावरहिता निवृत्तिर्योगवर्त्मनि ।
विपर्यस्ता मतिर्या सा भ्रान्तिरित्यभिधीयते ।
दुःखमज्ञानजं पुंसां चेतस्याध्यात्मिकं विदुः ॥
आधिभौतिकमङ्गोत्थं स्वतो दुःखं पुरा कृतैः ।
आधिदैविकमाख्यातमशन्यस्त्रविषादिजम् ॥
इच्छाविघातजं दोषं दौर्मनस्यं प्रचक्षते ।
विषयेषु विचित्रेषु विभ्रमस्त्वत्र लोलता ॥
एतेष्वेतेषु चिह्नेषु योगासक्तस्य योगिनः ।
उपसर्गाः प्रवर्तन्ते दिव्यास्ते सिद्धिसूचकाः ॥
प्रतिभा श्रवणं वार्ता दर्शनास्वादवेदनाः ।
उपसर्गाष्षडित्येते तदा योगस्य सिद्धयः ॥
सूक्ष्मे व्यवहितेऽर्थे च विप्रकृष्टे त्वनागते ।
प्रतिभा कथ्यते यार्थे प्रतिभा सा यथातथम् ॥
श्रवणं सर्वशब्दानां श्रवणं त्वप्रयत्नतः ।

वार्ता वार्तासु विज्ञानं सर्वेषामेव देहिनाम् ॥
दर्शनं नाम दिव्यानां दर्शनं त्वप्रयत्नतः ।
तथास्वादश्च दिव्येषु रसेष्वास्वाद उच्यते ॥
स्पर्शनाधिगमस्तद्वद्वेदना नाम विश्रुता ।
सुगन्धानां च दिव्यानामाब्रह्मभुवनावधि ॥
उपतिष्ठन्ति रत्नानि यानानि च बहूनि च ।
स्वच्छन्दं मधुरा वाणी विविधास्य प्रवर्तते ॥
रसायनानि सर्वाणि दिव्याश्चौषधयस्तथा ।
सिध्यन्ति प्रणिपत्यैनं नयन्ति सुरयोषितः ॥
योगसिद्ध्येकदेशेऽपि दृष्टे मोक्षे भवेन्मतिः ।
दृष्टमेतन्मया यद्वत्तद्वन्मोक्षो भवेदिति ॥'

तत्रैव–

'ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं यच्च ध्यानप्रयोजनम् ।
एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा ध्याता ध्यानं समाचरेत् ॥
ज्ञानवैराग्यसंपन्नो नित्यमुद्युक्तमानसः ।
श्रद्दधानः प्रसन्नात्मा ध्याता सद्भिरुदाहृतः ॥
ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुः शिवचिन्ता मुहुर्मुहुः ।
अव्याक्षिप्तेन मनसा ध्यानमित्यभिधीयते ॥
बुद्धिप्रवाहरूपस्य ध्यानस्यास्यावलम्बनम् ।
ध्येयमित्युच्यते सद्भिस्तच्च साम्बस्स्वयं शिवः ॥

विमुक्तिप्रत्ययः पूर्वं चैश्वर्यञ्चाणिमादिकम् ।
शिवध्यानस्य तस्यास्य साक्षान्मुक्तिः प्रयोजनम् ॥
यस्मात् सौख्यं च मोक्षं च ध्यानादुभयमाप्नुयात् ।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य ध्याननिष्ठो भवेन्नरः ॥
नास्ति ध्यानं विना ज्ञानं नास्ति ध्यानमयोगिनः ।
ज्ञानं ध्यानं च यस्यास्ति तीर्णस्तेन भवार्णवः ॥
ज्ञानं प्रसन्नमेकाग्रमशेषोपाधिवर्जितम् ।
योगाभ्यासेन युक्तस्य योगिनस्त्वेव सिध्यति ॥
प्रक्षीणाशेषपापानां ज्ञाने ध्याने भवेन्मतिः ।
पापोपहतबुद्धीनां तद्वार्तापि सुदुर्लभा ॥
यथा वह्निर्महादीप्तश्शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत् ।
तथा शुभाशुभं कर्म ध्यानाग्निर्दहति क्षणात् ॥
अत्यल्पोऽपि यथा दीपस्सुमहन्नाशयेत्तमः ।
योगाभ्यासस्तथाल्पोऽपि महत् पापं विनाशयेत् ॥
ध्यायतः क्षणमात्रं वा श्रद्धया परमेश्वरम् ।
भवेद्यत् सुमहच्छ्रेयस्तस्यान्तो नैव विद्यते ॥
नास्ति ध्यानसमं तीर्थं नास्ति ध्यानसमं तपः ।
नास्ति ध्यानसमो यज्ञस्तस्माद्ध्यानं समाचरेत्' ॥ इति ।

पराशरोपपुराणे–

'महादेवस्य साम्बस्य शेषत्वेनैव केवलम् ।

देवतास्सकला ध्येयास्सुविज्ञेया मनीषिणिः ॥
सर्वमेतत् परित्यज्य शिव एव शिवङ्करः ।
ध्येय इत्याह परमा श्रुतिराथर्वणी खलु ॥
अथ किं बहुनोक्तेन शिवस्साम्बस्सनातनः ।
साक्षान्निष्ठा हि शास्त्राणां नापरस्सत्यमीरितम् ॥
तदन्यत् सकलं विश्वं स हि विश्वाधिकः शिवः ।
स एव जगतान्नाथस्स तु संसारमोचकः' ॥ इति ।

तत्रैव—

'ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय शिवं साम्बं त्रिलोचनम् ।
ध्यात्वा समाहितो भूत्वा धर्ममर्थं च चिन्तयेत्' ॥इति ।

अत्रैव सप्तदशे—

'साक्षात् परतरस्यैव वस्तुनस्सर्वसाक्षिणः ।
अस्ति मूर्तिः परा शुद्धा स्वतन्त्रा पापनाशिनी ॥
तस्यासाधारणा मूर्तिस्साम्बा चन्द्रार्धशेखरा ।
नीलग्रीवा विरूपाक्षा ध्येया ब्रह्मादिभिः परैः' ॥ इति ।

सौरसंहितायाम्—

'सर्वैश्वर्येण संपन्नं सर्वेशं च स्वभावतः ।
तद्विज्ञानाभिवृद्ध्यर्थं तदेव ध्येयमास्तिकैः' ॥ इति ।

ईश्वरध्यानादिनिष्ठं प्रति ईश्वरः अनुगृह्णातीति योगशास्त्रकारैरप्युक्तम् । 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' अस्य सूत्रस्येदं वैया-

सिकं भाष्यम्–

'प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण । तदभिध्यानादपि योगिनः आसन्नतरस्समाधिलाभः समाधिफलं च' इति । एतस्य भाष्यस्य व्याख्यानं तत्त्ववैशारद्याम् 'प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् मानसाद्वाचिकात्कायिकाद्वा, आवर्जितोऽभिमुखीकृतस्तमनुगृह्णाति । अभिध्यानमात्रेण–अभिध्यानमनागतेऽर्थे इच्छा । इदमस्याभिमतमस्त्विति तन्मात्रेण न व्यापारान्तरेण' इति ।

हृदयपुण्डरीके परमेश्वरध्यानं कर्तव्यमिति आदौ पुराणवचनानि लिख्यन्ते ।

सूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे द्वितीयाध्याये–

'पुनस्साक्षाच्छिवज्ञानसिद्ध्यर्थं मुनिपुङ्गवाः ।
अग्निहोत्रसमुत्पन्नं भस्मादायादरेण तु ॥
निधाय पात्रे शुद्धे तत् पादौ प्रक्षाल्य वारिणा ।
द्विराचम्य मुनिश्रेष्ठास्सपवित्राः समाहिताः ॥
ओमापस्सर्वमित्येतन्मन्त्रमुच्चार्य भक्तितः ।
ध्यात्वा विष्णुं जलाध्यक्षं गृहीत्वा भस्मवारिणा ॥
विमृज्य मन्त्रैर्जाबालैरग्निरित्यादिसप्तभिः ।
समाहितधियश्शुद्धाश्शिवं ध्यात्वा शिवामपि ॥
समुद्धूल्य मुनिश्रेष्ठा आपादतलमस्तकम् ।
सितेन भस्मना तेन ब्रह्मभूतेन भावनात् ॥

ललाटे हृदये कुक्षौ दोर्द्वन्द्वे च सुरोत्तमाः ।
त्रिपुण्ड्रधारणं कृत्वा ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥
एवं कृत्वा व्रतं देवाः अथर्वशिरसि स्थितम् ।
शान्ता दान्ता विरक्ताश्च त्यक्त्वा कर्माणि सुव्रताः ॥
वालाग्रमात्रं विश्वेशं जातवेदस्वरूपिणम् ।
हृत्पद्मकर्णिकामध्ये ध्यात्वा वेदविदां वराः ॥
सर्वज्ञं सर्वकर्तारं समस्ताधारमद्भुतम् ।
प्रणवेनैव मन्त्रेण पूजयामासुरीश्वरम् ॥
अथ तेषां प्रसादार्थं पशूनां पतिरीश्वरः ।
उमार्धविग्रहश्श्रीमान् सोमार्धकृतशेखरः ॥
नीलकण्ठो निराधारो निर्मलो निरुपप्लवः ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानैरुपास्यः परमेश्वरः ॥
सान्निध्यमकरोद्रुद्रः साक्षात् संसारनाशकः' । इति ॥

वायवीयसंहितायां पूर्वभागे अष्टाविंशाध्याये–

'अवतार्य स्वमात्मानममृतात्ताकृतिं हृदि ।
द्वादशान्तस्थितस्येन्दोः परस्तात् सितपङ्कजे ॥
अर्धनारीश्वरं देवमतीव मधुराकृतिम् ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं प्रसन्नं शीतलद्युतिम् ॥
ध्यात्वा नामाष्टकैरेव भावपुष्पैस्समर्चयेत्' । इति ॥

तत्रैव उपरिभागे अष्टमाध्याये–

'तस्मात् सह तया शक्त्या हृदि पश्यन्ति ये शिवम् ।
तेषां शाश्वतिकी शान्तिर्नेतरेषामिति श्रुतिः' । इति ॥

तत्रैव नवमे–

'व्रतं पाशुपतं कृत्वा ह्यथर्वशिरसि स्थितम् ।
भस्मसंच्छन्नसर्वाङ्गा बभूवुरमरास्तथा ॥
अथ तेषां प्रसादार्थं पशूनां पतिरीश्वरः ।
सगणश्चाम्बया सार्धं सान्निध्यमकरोत् प्रभुः ॥
यं विनिद्रा विनिश्श्वासा योगिनो वीतकल्मषाः ।
हृदि पश्यन्ति देवं तं ददृशुस्सुरपुङ्गवाः' ॥ इति ॥

कौर्मे उपरिभागे एकोनचत्वारिंशाध्याये–

'ये हि मां योगनिरता ध्यायन्ति सततं हृदि ।
मद्भक्तिपरमा नित्यं यतयः क्षीणकल्मषाः ॥
नाशयाम्यचिरात् तेषां घोरं संसारसागरम्' । इति ॥

सौरसंहितायां तृतीयाध्याये–

'विविक्तसेवी लघ्वाशी सुखासीनो जितेन्द्रियः ।
समग्रीवशिरःकायः शुचिर्भस्मावकुण्ठितः ॥
त्रिपुण्ड्रधारणैर्युक्तो गुरुभक्तिसमन्वितः ।
हृत्पुण्डरीकमध्ये तु शिवं सत्यादिलक्षणम् ॥
सर्वस्य जगतस्साक्षात् सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ।
उमासहायं कल्याणं नीलकण्ठं त्रिलोचनम् ॥

प्रशान्तं प्रभुमीशानं ध्यायेन्नित्यमतन्द्रितः ।
ध्यानेनैव शिवज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिर्न कर्मणा ॥
कर्म तु ज्ञानहेतुः स्यादिति तत्त्वविदां स्थितिः' ॥ इति ।

इतोऽपि परमेश्वरोपासनं कर्तव्यम् यतः ब्रह्मविष्ण्वादिभिरपि तदुपासनं कृतमिति वचनानि प्रदर्श्यन्ते ।

सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे द्वितीयाध्याये–

उमासहायो भगवान्नीलकण्ठस्त्रिलोचनः ।
ब्रह्मणा विष्णुना चैव रुद्रेणापि सदा हृदि ॥
उपास्यमानस्सर्वात्मा सर्ववस्तुविवर्जितः ।
कृपया केवलं विष्णुं विश्वमूर्तिर्वृषध्वजः ॥
अनुगृह्याब्रवीत् विप्रा देवो मधुरया गिरा ।
किमर्थं तप्तवान् विष्णो महाघोरं तपश्चिरम् ॥
अत्यन्तं प्रीतवानस्मि तव तद्वद मेऽनघ' । इति ॥

यज्ञवैभवखण्डे नवमाध्याये–

उमार्धविग्रहा शुक्ला चन्द्रार्धकृतशेखरा ।
नीलग्रीवा त्रिणेत्रा च प्रसन्नवदना शुभा ॥
वरदाभयहस्ता च विचित्रमकुटोज्ज्वला ।
सर्वलक्षणसंपन्ना सर्वाभरणभूषिता ॥
स्वस्वरूपानुसन्धानप्रमोदादेव केवलात् ।
महाताण्डवसंयुक्ता ब्रह्मविष्णुशिवादिभिः ॥

ध्येयाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्ता या मूर्तिः श्रुतिदर्शिता ।
सेयं प्रसन्नमूर्तिः स्यात् परात् परतरस्य तु ॥
ये सदा परमां मूर्तिं ध्यायन्ति हृदयाम्बुजे ।
इह ते परमां भुक्तिं मुक्तिं च प्राप्नुवन्ति हि' ॥ इति ।

तत्रैव सप्तविंशे—

'अरूपस्य शिवस्यापि मूर्तिर्ध्येया ह्युपासकैः ।
उमार्धविग्रहा शुद्धा त्रिणेत्रा चन्द्रशेखरा ॥
नीलग्रीवा परानन्दा प्रमोदात्ताण्डवप्रिया ।
ब्रह्मविष्णुमहादेवैः उपास्या गुणमूर्तिभिः ॥
सर्वमूर्तिविहीनस्य सर्वभूताधिपस्य तु ।
तथाप्येषा परा मूर्तिरित्येषा शाश्वती श्रुतिः' ॥ इति ।

तत्रैव सूतगीतायां पञ्चमाध्याये—

'अतः प्रसादसिद्ध्यर्थं परया श्रद्धया सह ।
ध्येयमेव परं तत्त्वं हृदयाम्भोजमध्यमे ॥
त्रिमूर्तीनां तु रुद्रोऽपि शिवं परमकारणम् ।
सदा मूर्त्यात्मना प्रीत्या ध्यायति द्विजपुङ्गवाः ॥
त्रिमूर्तीनां च विष्णुश्च शिवं परमकारणम् ।
सदा मूर्त्यात्मना प्रीत्या ध्यायति द्विजपुङ्गवाः ॥
त्रिमूर्तीनां विरिञ्चोऽपि शिवं परमकारणम् ।
सदा मूर्त्यात्मना प्रीत्या ध्यायति द्विजपुङ्गवाः ॥

ब्रह्मविष्णुमहेशानां त्रिमूर्तीनां विचक्षणाः ।
विभूतिरूपा देवाश्च ध्यायन्ति प्रीतिसंयुताः ॥
घृतकाठिन्यवन्मूर्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।
शिवाद्भेदेन नैवास्ति शिव एव हि सर्वदा' ॥ इति ।

पराशरोपपुराणे प्रथमाध्याये–

'वरदाभयहस्ताय त्रिणेत्राय त्रिमूर्तिभिः ।
हृदि ध्येयाय नित्याय नमः साम्बाय साक्षिणे ॥
वेदवेदान्तगम्याय वेदमार्गनिवर्तिनाम् ।
अगम्याय सुगम्याय नमो वेदान्तवेदिनाम्' ॥ इति ।

सौरसंहितायां तृतीयाध्याये–

'महेश्वरः शिवः शंभुः प्रणवस्यास्य गोचरः ।
अणोरणीयान् महतो महीयानम्बिकापतिः ॥
उमापतिर्नमस्कार्यः सर्वैर्ध्येयो हृदम्बुजे ।
तथा ध्येयो हरिब्रह्मप्रमुखैर्गुणमूर्तिभिः' ॥ इति ।

वासिष्ठलैङ्गे तृतीयाध्याये–

'मूर्तिरस्य मुनिश्रेष्ठ शिरसा श्रूयते श्रुतेः ।
उमया सहिता नित्या नीलग्रीवा त्रिलोचना ॥
स्वात्मतत्त्वसुखस्फूर्तिः मुदिता ताण्डवप्रिया ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानैः उपास्या सर्वदा मुने ॥
भोगमोक्षप्रदा पुण्या पुंसां वेदविदां वर ।

सैव मे परमा मूर्तिरुपास्या सर्वदा तव' ॥ इति ।
सूतसंहितायामेव–

'अथ तेषां प्रसादार्थं पशूनां पतिरीश्वरः ।
उमार्धविग्रहः श्रीमान् सोमार्धकृतशेखरः ॥
नीलकण्ठो निराधारो निर्मलो निरुपप्लवः ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानैः उपास्यः परमेश्वरः ॥
सान्निध्यमकरोद्रुद्रः साक्षात् संसारनाशकः' । इति ।

पराशरोपपुराण एव–

'उमार्धविग्रहा शुक्ला चन्द्रार्धकृतशेखरा ।
नीलग्रीवा परानन्दा प्रमोदात्ताण्डवप्रिया ॥
ब्रह्मविष्णुमहादेवैरुपास्या गुणमूर्तिभिः ।
सर्वमूर्तिविहीनस्य सर्वभूताधिपस्य तु ॥
तथाप्येषा परा मूर्तिरित्येषा शाश्वती श्रुतिः' । इति ।
'साक्षात् परतरस्यैव वस्तुनः सर्वसाक्षिणः ॥
अस्ति मूर्तिः परा शुद्धा स्वतन्त्रा पापनाशनी ।
तस्यासाधारणी मूर्तिस्साम्बा चन्द्रार्धशेखरा' ॥

इत्यारभ्य,

'ब्रह्मविष्णुमहेशानास्तान् ध्यायन्ति निरन्तरम्' । इति ।

हृदयपुण्डरीके परमेश्वरस्याविर्भावातिशयाद् भ्रूमध्याद्यपेक्षया तत्रैव परमेश्वरोपासनं प्रशस्तमिति तदर्थं वचनानि

प्रदर्श्यन्ते । भगवद्गीतायाम्—

'ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।' इति ।

'गुहाहितम्' इति, 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इति, 'गुहाशयं निष्कळमद्वितीयम्' इति, 'आविस्सन्निहितं गुहाचरम्' इत्येवमाद्याः श्रुतयः । शैवे एकादशरुद्रसंहितायां जैमिनिप्रश्नानन्तरं व्यासवचनम्—

'ब्रह्म यत् सच्चिदानन्दं परिपूर्णं च सर्वतः ।
सर्वत्र दृश्यते नैव करणागोचरत्वतः ॥
दृश्यते तच्छरीरेऽस्मिन् तस्मात् ब्रह्मपुरं च तत् ।
तस्मिंस्तु कलमाभं यद्दहरं हृदयं मुने ॥
तदिदं पुण्डरीकाख्यं वेश्म प्रोक्तं मया तव ।
तस्मिन्नवस्थितं ब्रह्म तेन वेश्मेति कीर्तितम् ।
तद्वेश्म वर्तते देहे तेन देहः पुराभिधः ॥
यदस्मिन् वर्तते ब्रह्म पुण्डरीकाख्यवेश्मनि ।
वियत्समानरूपत्वादाकाशाख्यं च तद्भवेत् ॥
तथैवोक्तगुणैर्युक्तं हृदये समुपासितम् ।
भविष्यत्यपरोक्षं ते नात्र संदेहकारणम्' ॥ इति ।

हृदय एव परमेश्वर उपास्य इत्यत्र तत्रैव न्यायोपबृंहितमिदं

वचनम्–

‘आत्मा तु देहे सर्वत्र वर्तमानोऽपि सुव्रत ।
अतीव हृदये त्वस्य प्रकाशो नेतरे तथा ॥
अहंशब्दाभिधो ह्यात्मा न विवादोऽत्र कस्यचित् ।
अहंशब्दं प्रयुञ्जंश्च लोकस्सर्वोऽपि जैमिने ॥
हृदयं निर्दिशत्येव ह्यहं तत्र स्थितस्ततः ।
यतोऽस्य हृदये नित्यं प्रकाशोऽतीव विद्यते ॥
न तथान्यत्र तस्मात्तु हृदयं हि विशिष्यते’ । इति ॥

तथा च हृदयपुण्डरीके परमेश्वरोपासनं छान्दोग्यबृहदारण्यकतैत्तिरीयककैवल्येषु श्रुतिभिः प्रतिपादितम् । ‘अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्’ इति प्रस्तुत्य ‘अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति’ इति च उक्त्वा, अन्ते उपसंहृतम् ‘तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति’ इति षड्भिः खण्डिकाभिः, बृहदारण्यकेऽपि ‘स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषो अन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते’ इत्युपक्रम्य ‘एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय’ इत्यन्तेन ग्रन्थेन । तैत्तिरीयकेऽपि ‘अणोरणीयान् महतो महीयान्’ इत्यारभ्य, ‘दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं

पुरमध्यसंस्थम् । तत्रापि दहरं गगनं विशोकस्तस्मिन् यदन्तस्त-दुपासितव्यम्' इत्युपासनं विधाय, एतत्तृतीयानुवाके 'ऋतं सत्यम्' इत्यस्मिन्नुपास्यस्वरूपं प्रतिपादितम् । एवं कैवल्येऽपि 'विविक्तदेशे च सुखासनस्थ' इत्यारभ्य 'हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य' इति हृदयपुण्डरीकमुपासना-स्थानं च प्रस्तुत्य 'विशदम् विशोकम्' इत्यादिना 'नील-कण्ठं प्रशान्तम्' इत्यन्तेन ग्रन्थेन उपास्यस्वरूपमप्युक्त्वा, 'ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्' इत्यन्तेन ग्रन्थेन फलमप्युक्तम् । श्रुतेरर्थ इतिहासपुराणाभ्यां विवेचनीयः ।

सूतसंहितायाम्—

'यश्चतुर्वेदविद्विप्रः पुराणं वेत्ति नार्थतः ।
तं दृष्ट्वा भयमाप्नोति वेदो मां प्रतरिष्यति ॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' ।

इति चोक्तम् ।

'यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चेत् पुराणं संविद्यात् नैव स स्याद्विचक्षणः ॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति' ॥ इति वाय-

वीयसंहितायाम् ।

अत्र उदाहृत उपनिषच्चतुष्टयेऽपि समुच्चित्यैव दहरोपासनं कर्तव्यमिति । एकादशरुद्रसंहितायां जैमिनिं प्रति व्यासवचनम्–

'ब्रह्म यत् सच्चिदानन्दं परिपूर्णं च सर्वतः ।
सर्वत्र दृश्यते नैव कारणागोचरत्वतः ॥
दृश्यते तच्छरीरेऽस्मिन् तस्माद् ब्रह्मपुरं च तत् ।
तस्मिंस्तु कमलाभं यत् दहरं हृदयं मुने ॥
तदिदं पुण्डरीकाख्यं वेश्म प्रोक्तं मया तव ।
तस्मिन्नवस्थितं ब्रह्म तेन वेश्मेति कीर्तितम् ॥
तद्वेश्म वर्तते देहे तेन देहः पुराभिधः ।
यदस्मिन् वर्तते ब्रह्म पुण्डरीकाख्यवेश्मनि ॥
वियत्समानरूपत्वादाकाशाख्यं च तद्भवेत् ।
तथैवोक्तगुणैर्युक्तं हृदये समुपासितम् ॥
भविष्यत्यपरोक्षं ते नात्र सन्देहकारणम्' । इति ।
'वदन्त्यत्यादरेणैव मुने कैवल्यशाखिनः ।
स्वराडाख्यस्य देवस्य हृदयाम्भोजमध्यमे ॥
उमासहायो भगवान् नीलकण्ठस्त्रिलोचनः ।
यः प्रभुर्नृत्यते नित्यं परमानन्दचिद्घनः ॥
तं दृष्ट्वा मनुजस्सद्यो विमुक्तो भवतीति हि ॥
यः सर्वासां देवतानां च हेतु-
र्यो वै विष्णोश्चाधिको वै महर्षिः ।

ब्रह्माणं यः पश्यति जायमानं
नित्यं सोऽस्मान् सम्मदौ (सन्मतौ ?) संयुनक्तु ॥
दहरं विपाप्मं परमेश्वरस्य यद्वेश्मभूतं कमलं पुरस्थम् ।
तत्रापि दहरं गगनं तु शुभ्रं तदेव नित्यं सकलैरुपास्यम् ॥
वेदस्यान्ते वेदमध्ये तदादौ
योऽसौ रुद्रो बोध्यते सर्वयत्नात् ।
सोऽयं देवस्तत्र चोपास्य उक्तो
रुद्रस्साक्षात् सच्चिदानन्दरूपः ॥
याजुर्वेद्यं वाक्यमेतत्तथान्यत्
यच्चेदृक् स्यादत्र शाखान्तरे वा ।
आलोच्यैतत् सर्वमेतत् त्वया वै
व्याख्येयं स्यादस्मदुक्तानुसारात्' ॥ इति ।

अस्मिन्नध्याये 'ब्रह्म यत् सच्चिदानन्दम्' इत्यारभ्य 'नात्र सन्देहकारणम्' इत्यन्तेन छन्दोगश्रुत्युक्तं प्रदर्शितम् । 'वदन्त्यत्यादरेणैव' इत्यारभ्य 'विमुक्तो भवतीति हि' इत्यन्तेन कैवल्योपनिषदुक्तोपासनमपि सूचितम् । 'यस्सर्वासाम्' इत्यारभ्य 'याजुर्वेद्यं वाक्यमेतद्' इत्यन्तेन तैत्तिरीयोक्तिदहरोपासनमपि स्फुटतया प्रदर्शितम् । 'तथान्यद्' इत्यारभ्य शाखान्तरे हृदयपुण्डरीके परमेश्वरः गुणविशिष्टतया उक्तश्चेत् सोऽप्यत्र गुणस-

मुदाय उपसंहर्तव्य इति सूचितम् । 'ईदृक्स्यात्' इत्यनेन परमेश्वराविरुद्धगुणस्सूचितः । 'आलोच्यैतद्' इत्यनेन गुणोपसंहारन्यायोऽपि सूचितः । अनेन परिशेषाच्छाखान्तरं बृहदारण्यकमिति पर्यवसितम् । तथा च सूत्रकारः 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य' इति । अस्य भाष्यं श्रुतिद्वयमुदाहृत्यानन्तरम्—'कामादीति सत्यकामादीत्यर्थः । यथा देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति। यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते तदितरत्र वाजसनेयके 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यत्र संबध्यते । यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते तदपि इतरत्र छान्दोग्ये 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यत्र संबध्यते । कुतः ? आयतनादिसामान्यात् । समानं ह्युभयत्रापि हृदयमायतनं, समानश्च वेद्य ईश्वरः, समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासंभेदप्रयोजनमित्यादि बहु सामान्यं दृश्यते । ननु विशेषोऽपि दृश्यते छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणयोगो, वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मण इति ? न । 'दहर उत्तरेभ्यः' इत्यत्र छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात् । अयं त्वत्र विद्यते विशेषः । सगुणा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्ये उपदिश्यते, 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्' इत्यात्मवत् कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात् । वाजसनेयके तु निर्गुणमेव परं ब्रह्म उपदिश्यमानं

दृश्यते, 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि' 'असंगो ह्ययं पुरुष' इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात् । वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं वाजसनेयके सङ्कीर्त्यते । तथा चोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्यादिना निर्गुणमेव ब्रह्म उपसंहरति । गुणवतस्तु ब्रह्मणः एकत्वात् विभूतिप्रदर्शनायायं गुणोपसंहारस्सूत्रितो नोपासनायेति द्रष्टव्यम्'—इति ।

नन्वेवं भाष्योक्तरीत्या वशित्वादिगुणानां बृहदारण्यके ध्येयत्वासंभवाच्छान्दोग्ये उपसंहृतानामपि न ध्येयत्वम् । एवं कैवल्यतैत्तिरीयकगतानां उमासहायत्वविरूपाक्षत्वादीनां स्मरणमेव नास्ति । कथं उपनिषच्चतुष्टयोक्तगुणानां समुच्चित्योपासनं न्यायविरोधादिति चेद् ?

उच्यते । 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्' इति सामान्यन्यायेनैव उक्तोपनिषच्चतुष्टये गुणोपसंहारस्य सिद्धत्वात् । तथा हि । चोदनाद्यविशेषादित्यादिशब्देन संयोगरूपाख्याः शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तगता गृह्यन्ते अभेदहेतवः । अत्र चोदना उपासनाविधिः 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ति एतांश्च सत्यान् कामान्' इति । संयोगः फलम् 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति । रूपम् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इति प्रस्तुत्य 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्स' इत्यादि । आख्यापि दहरविद्येति यथा छान्दोग्ये, एवं कैवल्येऽपि । 'विशदं विशोकं' इत्युपक्रम्य 'त्रिलोचनं नीलकण्ठं

प्रशान्तं' इत्यन्तेन उपास्यरूपमुक्तम् । 'ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्' इति चोदनाफले उक्ते । आख्यापि दहरविद्येति कैवल्यशाखिनः प्रसिद्धैव । एवं तैत्तिरीयकेऽपि 'तत्रापि दहरं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्' इति उपासनाविधिः । 'दहरं गगनं विशोक' इति 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णापिङ्गळम् । ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं' इति च उपास्यस्वरूपमुक्तम् । आदावेव 'अणोरणीयान्' इति प्रस्तुत्य 'तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्' इति 'स नो देवश्शुभया स्मृत्या संयुनक्तु' इति च फलं सिद्धम् । 'दहरं विपाप्ममि' ति दहराख्यापि प्रसिद्धैव । एवं बृहदारण्यकेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी' इत्यादिना रूपमुक्तम् । फलं च 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति सद्योमुक्तिरूपमुक्तम् । चोदनाशब्दस्सगुणनिर्गुणविद्योभयसाधारणः । 'ब्रह्मचोदना तु' इति भाष्ये व्यवहारात्, सूत्रकारेणापि 'चोदनाद्यविशेषादि' ति सगुणनिर्गुणविद्यासाधारण्येनोक्तत्वात् । आख्यापि वाजसनेयशाखिनः प्रसिद्धा । किञ्च 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते' इति दहराख्यत्वमुन्नेयम् ।

नन्वेवमपि सगुणनिर्गुणविद्यात्वेन भेदात् गुणोपसंहारस्सगुणनिर्गुणविद्ययोर्न संभवतीत्यशङ्क्य तत्परिहारार्थतया

'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य' इतीदं सूत्रं प्रवृत्तम् । विद्याभेदेऽपि गुणोपसंहारस्संभवतीति बृहदारण्यके आम्नातानां वशित्वादीनां उपासनाविधिपरिगृहीतत्वाभावेऽपि तत्र तेषामेव धर्माणां छान्दोग्ये उपसंहारानन्तरं तत्रत्योपासनाप्रयोगविधि-नामकप्रकरणे विद्यमानं तदङ्गमिति परिग्रहसंभवात् । अथवा वशित्वादिगुणानां सत्यकामत्वादिना छान्दोग्यगतेन उन्नयनमस्तु । न हि वशित्वाद्यभावे सत्यकामत्वादिकमस्ति । येन केन प्रकारेण उपसंहारसूत्रबलाद्दहरविद्यायां वशित्वाद्युपासनं कर्तव्यम् । अत एव भामत्यां उभयत्राप्यात्मोपदेशादाकाशशब्देन एकत्रात्मा उक्तः अन्यत्राकाशाधारस्स एवोक्त इति सर्वसाम्यात् ब्रह्मण्युभयत्रापि सर्वगुणोपसंहारः सगुणनिर्गुणत्वेन विद्याभेदेऽपि गुणोपसंहार-व्यवस्था दर्शिता इति । उक्तं चाधिकरणरत्नमालायाम्

'असंहृतिस्संहृतिर्वा व्योम्नोर्दहरहार्दयोः ।
उपास्यज्ञेयभेदेन तद्गुणानामसंहृतिः ॥
उपास्त्यै क्वचिदन्यत्र स्तुतये चास्तु संहृतिः ।
दहराकाश आत्मैव हृदाकाशोऽपि नेतरः' ॥ इति ।

छान्दोग्ये 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इति हृदयान्तर्गतत्वेन श्रुतस्य दहराकाशस्य सत्यकामत्वादयो गुणा उपात्ताः । बृह-दारण्यके तु 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाश' इति उक्तस्य हार्दा-काशस्य वशित्वादयो गुणा उक्ताः । तत्र न परस्परमुपसंहर्त-

व्याः । दहराकाशस्य उपास्यत्वेन हार्दाकाशस्य ज्ञेयत्वेन विद्याभेदादिति प्राप्ते–

ब्रूमः । तत्र वशित्वादीनां दहराकाश उपसंहार उपास्त्यै भविष्यति । सत्यकामत्वादीनां तु हार्दाकाशस्तुत्यर्थमुपसंहारः । न च प्रयोजनवत्त्वेऽपि विद्याभेदो दुष्परिहर इति वाच्यम् । विद्याभेदेऽपि उभयत्राकाशशब्दवाच्यस्य आत्मन एकत्वात् । दहराकाशस्य तावदात्मत्वं दहराधिकरणे वर्णितम् । दहराकाशस्यापि 'महानज आत्मे' त्युपक्रमाद् आत्मत्वमुपगन्तव्यम् । तस्मादुभयत्र उपसंहारः ।

नन्वेवमपि कैवल्यतैत्तिरीयकयोराम्नातानां परमेश्वरगुणानां कथं छान्दोग्य उपसंहारः ? सामान्यन्यायस्य विद्यमानत्वेऽपि विशेषन्यायाभावात् । न । आयतनादीनामपि उभयत्र तुल्यत्वात् । तैत्तिरीये तावत् 'यत् पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्' इति हृदयपुण्डरीकमायतनम् । 'तत्रापि दहरं गगनं विशोक' इति दहरत्वं गगनशब्दवाच्यस्य आकाशत्वं 'विशोको विजिघत्स' इत्यादिवत् विशोकत्वोपलक्षितेतरगुणादिकं च सूचितम् । कैवल्येऽपि 'हृत्पुण्डरीकं विरजम्' इति आयतनं, 'विशदं विशोकम्' इति छान्दोग्यगताविशोकादिगुणसूचनम्, अनन्तमिति 'यावान्वायमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश' इति अपरिच्छिन्नत्वादिकमपि सूचितम् । इतरत्र तत्र चेति सर्वनामशब्दप्रयोगः साधारण एव । तस्मात् पुराणवचनात् सामान्यविशेषन्यायसाम्याच्च सिद्धं समुच्चित्यैवोपासनम् ।

ननु नारायणानुवाके 'सहस्रशीर्षं देवम्' इत्यादिना 'विश्वं नारायणं हरिम्' इत्यादिना च नारायणस्यापि उपास्यत्वं श्रूयते, कथं परमेश्वरस्यैव उपास्यत्वम् ? उच्यते । नारायणस्य उपासकत्वेनैव पुराणेषु श्रवणात् । तथा हि । सौरसंहितायाम्—

'उमापतिर्नमस्कार्यस्सर्वैर्ध्येयो हृदम्बुजे ।
तथा ध्येयो हरिब्रह्मप्रमुखैर्गुणमूर्तिभिः ॥
तस्य ध्याता हरिस्साक्षात् नारायणसमाह्वयः ।
देवस्सहस्रशीर्षश्च विश्वाक्षो विश्वशंकरः ॥
विश्वो विश्वस्य निर्माता पालकोऽत्ता परात्परः ।
अक्षरः परमो नित्यो हरिर्मायापतिः प्रभुः ॥
पुरुषश्च पुराणश्च तं विश्वमुपजीवति ।
सोऽयं सर्वैर्महत्त्वेन तथा विश्वात्मनापि च ॥
योऽयं परायणत्वेन परब्रह्मात्मनापि च ।
अयमेव परं तत्त्वं परं ज्योतिः परात्परः ॥
अयमात्मा समस्तस्य चेतनस्यापरस्य च ।
यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ॥
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ।
साक्षाद्वेदान्तवाक्यानां निष्ठा रुद्रः पशोः पतिः ॥
अम्बिकापतिरानन्दः स्वयमेव न संशयः ।
अस्य नारायणस्यापि ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ॥

रुद्रस्यापि शिवो ध्येयः किं पुनस्सर्वदेहिनाम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शिवं साम्बं त्रिलोचनम् ॥
ऊर्ध्वरेतसमीशानं ध्यायेन्नित्यमतन्द्रितः ।
तं सर्वकारणं रुद्रं अणीयांसमणोरपि ॥
महान्तं महतस्साक्षात् प्रणवेनैव पूजयेत्' ॥ इति ।

अनेन वचनेन नाराणस्यैव परमेश्वरध्याने साक्षादधिकारो ब्रह्मरुद्रयोश्च ।

एवं च हृदयपुण्डरीके परमेश्वरविषय- ध्याने यः प्रवर्तते स आदौ स्वात्मानं नारायणत्वेन सहस्र- शीर्षत्वादिगुणयुक्तत्वेन परिभाव्य अनन्तरं नारायणात्मना विद्यमानस्य स्वस्य हृदयपुण्डरीकमध्ये वह्निना दीप्ते परमात्मानं परमेश्वरं ध्यात्वा अनन्तरं अहन्त्वेनापि भावयेदिति । अस्मिन्नर्थे 'सहस्रशीर्षं देवम्' इति नारायणानुवाक एव प्रमाणम् ।

उक्तं च सूतसंहितायाम्–

'अथ वाऽहं हरिस्साक्षात् सर्वज्ञः पुरुषोत्तमः ।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥
विश्वो नारायणो देवः अक्षरः परमः प्रभुः ।
इति ध्यात्वा पुनः स्वस्य हृदयाम्भोजमध्यमे ॥
प्राणायामैर्विकसिते पारमेश्वरमन्दिरे ।
अष्टैश्वर्यदळोपेते विद्याकेसरसंयुते ॥
ज्ञाननाळे महत्कन्दे प्रणवेन प्रबोधिते ।

विश्वार्चिषं महावह्निं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् ॥
वैश्वानरं जगद्योनिं शिखातन्विनमीश्वरम् ।
तापयन्तं स्वकं देहं आपादतलमस्तकम् ॥
निवातदीपवत्तस्मिन् दीपितं हव्यवाहनम् ।
नीलतोयदमध्यस्थं विद्युल्लेखेव भास्वरम् ॥
नीवारशूकवद्रूपं पीताभासं विचिन्तयेत् ।
तस्य वह्नेः शिखायां तु मध्ये परमकारणम् ॥
परमानन्दमात्मानं परमाकाशमध्यगम् ।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म साम्बं संसारभेषजम् ॥
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपं महेश्वरम् ।
नीलग्रीवं स्वमात्मानं पश्यन्तं पापनाशनम् ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानैर्ध्येयं ध्येयविवर्जितम् ।
सोऽहमित्यादरेणैवं ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् ॥
अयं मुक्तेर्महामार्ग आगमान्तैकसंस्थितः' ॥ इति ॥

अथवा स्वस्य हृदयाम्भोजे नारायणं ध्यात्वा सोऽहमिति विचिन्त्य तस्य नारायणस्य हृदये परमेश्वरं ध्यायेदहंग्रहपर्यन्तमिति नारायणानुवाकस्यार्थः । तदुक्तं योगयाज्ञवल्क्ये–

'हृत्पद्मेऽष्टदळोपेते कन्दमध्यात्समुत्थिते ।
द्वादशाङ्गुळनाभेऽस्मिंश्चतुरङ्गुळमुन्मुखे ॥
प्राणायामैर्विकसिते वैराग्यान्वितकर्णिके ।

वासुदेवं जगन्नाथं नारायणमजं विभुम् ॥
चतुर्भुजमुदाराङ्गं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
किरीटहारकेयूरपद्मपत्रायतेक्षणम् ॥
श्रीवत्सवक्षसं विष्णुं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।
कौस्तुभोद्भ्राजितोरस्कं वनमालायुतं हरिम् ॥
पद्मोदरदळाभोष्ठं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥
पद्मच्छविपदद्वन्द्वं परमात्मानमीश्वरम् ।
प्रभाविभावसद्रूपं परितः पुरुषोत्तमम् ॥
मनसाऽऽलोक्य भूतेशं सर्वलोकहृदि स्थितम् ।
सोऽहमेवेति यज्ज्ञानं सगुणध्यानमुच्यते ॥
हृत्सरोरुहमध्येऽस्मिन् प्रकृत्याकारकर्णिके ।
ऐश्वर्याष्टदळोपेते विद्याकेसरसंयुते ॥
ज्ञाननाळे महत्कन्दे प्राणायामैः प्रबोधिते ।
विश्वार्चिषं महावह्निं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् ॥
वैश्वानरं जगद्योनिं शिवातन्विनमीश्वरम् ।
तापयन्तं स्वकं देहमापादतलमस्तकम् ॥
निवातदीपवत्तस्मिन् दीपितं हव्यवाहनम् ।
दृष्ट्वा तस्य शिखामध्ये परमात्मानमीश्वरम् ॥
नीलतोयदमध्यस्थं विद्युल्लेखेव भास्वरम् ।

नीवारशूकवद्रूपं पीताभं सर्वकारणम् ॥
ज्ञात्वा वैश्वानरं देवं सोऽहमात्मेति या मतिः ।
सगुणेषूत्तमं ह्येतत् ध्यानं योगविदो विदुः ॥
वैश्वानरत्वं संप्राप्य मुक्तिं तेनैव गच्छति' ॥ इति ॥

उक्तं च कूर्मपुराणे–

'कृत्वा हृत्पद्मनिलयं विष्ण्वाख्यं विश्वसंभवम् ।
आत्मानं सर्वभूतानां परस्तात्तमसि स्थितम् ॥
सर्वस्याधारमव्यक्तमानन्दं ज्योतिरव्ययम् ।
प्रधानपुरुषातीतमाकाशमजरं शिवम् ॥
तदन्तस्सर्वभूतानामीश्वरं विश्वरूपिणम् ।
ध्यायेदनादिमद्वैतमानन्दादिगुणालयम् ॥
अनन्तं पुरुषं ब्रह्म ब्रह्माणं सत्यमव्ययम् ।
पुराणं पुरुषं शंभुं ध्यायन् मुच्येत बन्धनात् ॥ इति ॥

महाभारते शान्तिपर्वणि अर्जुनं प्रति श्रीकृष्णवचनम्–

'अहमात्मा हि लोकानां सर्वेषां पाण्डुनन्दन ।
तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं संपूजयाम्यहम् ॥
यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं भुवनेश्वरम् ।
आत्मानं नार्चयेत् कश्चिदिति मे भावितं मनः ॥
मया प्रमाणं हि कृतं लोकस्तमनुवर्तते ।

प्रमाणानि च पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम् ॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा पुराऽहं विश्वमीश्वरम् ।
पुत्रार्थमाराधितवानात्मनात्मानमात्मनः' ॥ इति ।

उदाहृतोपनिषच्चतुष्टयेऽपि उपास्यब्रह्मणः गुणनिर्धारणं क्रियते । तत्र तावच्छान्दोग्ये 'एष आत्मा' इत्युपक्रम्य तदनु 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो विपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्प' इत्यष्टौ गुणाः । यद्यपि 'उभे अस्मिन द्यावापृथिवी' इत्यादिना पूर्वत्र द्यावापृथिव्याद्याधारत्वमुक्तम् उत्तरत्रापि हृदयनामनिर्वचनं सत्यशब्दाक्षरत्रयनिर्वचनं सेत्वादिगुणाश्च सन्ति, तथापि तेषामुपास्यगुणत्वेन विवक्षा नास्ति । पूर्वत्रासत्त्वाल्पत्वादिशङ्कापरिहारार्थतया द्यावापृथिव्यादिसमाधानमुक्तम् । उत्तरत्र उपासनाप्रवृत्त्यर्थतया स्तुत्यर्थमुक्तम । एतत् सर्वं छान्दोग्यभाष्यादौ द्रष्टव्यम् । बृहदारण्यके 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानस्सर्वस्याधिपतिः' इति वशित्वादि गुणत्रयमेव । 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इति विद्वत्फलकथनम् । 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' इति तु विद्याविषयभूतेश्वरस्तुतिः । तदुक्तं वार्तिककारैः—

'भूयान् स साधुना नेति ज्ञानस्य फलमुच्यते ।
एष सर्वेश्वरोक्त्या च यथोक्तस्यैव संस्तुतिः' ॥ इति ॥

कैवल्ये 'हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये' इति प्रस्तुत्य 'विशदं विशोकम्' इत्यारभ्य 'नीलकण्ठं प्रशान्तम्' इत्यन्तेन एकाविंशतिगुणा आम्नाताः ।

तैत्तिरीयके तु 'दहरं विपाप्मम्' इत्यारभ्य 'तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्' इत्यन्तेन उपासनां विधाय, उपास्यस्वरूपं किमित्याकाङ्क्षायां 'योवेदादौ स्वर' इत्यादिना 'स महेश्वर' इत्यन्तेन प्रणवप्रकृतिवाच्यत्वेन महेश्वरत्वेन च प्रस्तुत्य तस्य वा किं स्वरूपमित्याकाङ्क्षायां 'सहस्रशीर्षं देवम्' इत्यादिना 'समुद्रेऽन्तं विश्वशंभुवम्' इत्यन्तेन परमात्मानं स्तुत्वा तत्संबन्धित्वेन 'पद्मकोशप्रतीकाशम्' इत्यादिना 'सन्ततं सिराभिस्तु लम्बत्याकोशसन्निभम्' इत्यन्तेन हृदयपुण्डरीकमपि परिचिन्त्य, अथवा तादृशमात्मानं उपासकः स्वात्मत्वेन परिचिन्त्य तत्तादात्म्यमापन्नस्य स्वस्य संबन्धित्वेन हृदयपुण्डरीकं स्वस्थाने विद्यमानमेव परिचिन्त्य तन्मध्ये वैश्वानराग्निशिखामध्यवर्तित्वेन 'तस्याश्शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थित' इति पूर्वोक्तमहेश्वरशब्दवाच्यस्य परशिवस्य उपास्यभूतस्य 'ऋतं सत्यम्' इत्यादिना 'विश्वरूपाय वै नम' इत्यन्तेनाष्टौ गुणा आम्नाताः ।

इदानीं उपासनाप्रकारो लिख्यते । तत्रापि अधिकारी प्रदर्श्यते । 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' इत्यादिना छान्दोग्ये ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नः अधिकारी प्रतीयते । ब्रह्मचर्यं,

स्त्रीविषयतृष्णात्यागः । कैवल्योपनिषदि 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि' इति श्रद्धादिकमधिकारिविशेषणमुक्तम् । तत्र श्रद्धा नाम गुरूपदिष्टेऽर्थे विश्वासः । भक्तिः सर्वदा तस्मिन्नेवार्थे तात्पर्यम् । तस्मिन्नेवार्थे विजातीयप्रत्ययतिरस्कारपूर्वकस्सजातीयप्रत्ययप्रवाहो ध्यानम् । योगः–

'विविक्तदेशे च सुखासनस्थ-
श्शुचिस्समग्रीवशिरश्शरीरः ।
अत्याश्रमस्थस्सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य' ॥

इति वक्ष्यमाणः । विविक्तदेशे एकान्तदेशे । चकारादव्याकुलकाले । सुखासनस्थः सुखमनुद्वेगकर दर्भाद्यासन सुखासनं तस्मिंस्तिष्ठतीति सुखासनस्थः । शुचिः बहिरन्तश्शौचवान् । समग्रीवशिरश्शरीरः समानं ग्रीवा च शिरश्च शरीरं च यस्य स समग्रीवशिरश्शरीरः । ऋजुकायः पद्मकाद्यासनस्थ इत्यर्थः । अत्याश्रमस्थः अति अधिकः ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थकुटीचकबहूदकहंसा आश्रमाः तान् प्रत्यधिकः अत्याश्रमः पारमहंस्यलक्षणः तस्मिन् तिष्ठतीति अत्याश्रमस्थः ॥ यद्वा अत्याश्रमशब्देन विभूतिधारणरूपं व्रतमुच्यते । तन्निष्ठः अत्याश्रमस्थः । तदुक्तं सूतसंहितायाम्–

'अथ वाथर्वणैर्मन्त्रैर्गृहीत्वा भस्म पाण्डरम् ।

सर्वाङ्गोद्धूळनं यत्तद् व्रतं प्रोक्तं मनीषिभिः ॥
एतद्वेदशिरोनिष्ठाः प्राहुः पाशुपतं मुने ।
केचिच्छिरोव्रतं प्राहुः केचिदत्याश्रमं बुधाः' ॥

इति । सकलेन्द्रियाणि निखिलानि समनस्कानि ज्ञान-कर्मेन्द्रियाणि निरुध्य स्वस्वप्रचारेभ्यो निरुध्य । भक्त्या देववद्देवाधिक्याद्वा स्वगुरुं स्वस्य ब्रह्मविद्योपदेष्टारं प्रणम्य प्रकर्षेण नत्वा । अनेन गुरुनमस्कारोऽपि अधिकारिविशेषणमुक्तम् । यद्यप्यस्यां कैवल्योपनिषदि 'न कर्मणा' इत्यारभ्य 'परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' इत्यन्तेन संन्नयासोऽपि साधनमिति प्रतीयते, एवं तैत्तिरीयकेऽपि 'न कर्मणे' त्यादिमन्त्रद्वयमस्ति, तथापि 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चतार्था' इति यतीनां विशेषणात् निर्गुणविद्याभिप्रयामुभयत्र मन्त्रद्वयम् । अत एव उभयत्र 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इति प्रकृतदहरविद्याधिकार्यपेक्षया अन्य एव ते ; तादृशनिर्गुणब्रह्मविद्यार्थमेव इयं दहरविद्या प्रवृत्ता, अत एवास्यामुपनिषदि 'ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्' इति उत्तरत्रैव फलं वक्ष्यति । उक्तं च सूतसंहितायां कैवल्योपबृंहकाध्याये—

'अस्ति तत्वं परं साक्षाच्छिवरुद्रादिसंज्ञितम् ।
तदवश्यं महायासाद्वेदितव्यं मुमुक्षुभिः' ॥ इत्युपक्रम्य
'ब्रह्मदृश्ये शरीरेऽस्मिन् अन्तकाले परस्य तु ।

अज्ञानाख्यस्य ते सर्वे मुच्यन्ते हि परामृतात्' ॥ इत्यन्तेन । अस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यदीपिकायां निर्गुणब्रह्मविद्यापरत्वेन व्याख्यानं कृतम् । 'मुच्यन्ते हि परामृतादि' त्यनन्तरमिदमुपबृंहकवचनं सगुणविद्याधिकारिविषयम्–

'अतो विद्याभिसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुर्मतिमत्तमः ।
विविक्तदेशमाश्रित्य सुखासीनो महाशुचिः ॥
समग्रीवशिरःकायस्सितभस्मावकुण्ठितः ।
इन्द्रियाणि समस्तानि निरुध्य सुरपुंगवाः ॥
प्रणम्य स्वगुरुं भक्त्या' इत्यन्तम् ।

तैत्तिरीयके तु–

'अणोरणीयान्महतो महीयान्
आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्' ॥

इत्यनुवाकादौ पठिते मन्त्रे धातुः परमेश्वरस्य प्रसादादनुग्रहात् तमेव अक्रतुं सङ्कल्परहितम् अत एव परमानन्दभरितं महिमानं क्षयवृद्धिरहितम् एवंभूतमीशानं महेश्वरं वीतशोकस्सन् पश्यति साक्षात्करोति । तादृशसाक्षात्कारार्थी मुमुक्षुरधिकारी । फलमपि अविद्यानिवर्तकसाक्षात्कार एवेति प्रतीयते । न केवलमस्य मन्त्रस्य ईशपदघटितत्वात् परमेश्वरपरत्वम् किन्तु शिवराघव-

संवादे त्रिपुण्ड्रधारणाङ्गभस्मसंपादने शैवे कर्मणि विनियुक्तत्वाच्च 'एवं यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद्विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः' इति मध्ये रुद्रशब्देन परामृष्टत्वाच्च परमेश्वरज्ञानरूपफलार्थमेव प्रवृत्तः मुमुक्षुरेवाधिकारी । यद्वा 'यो देवानाम्' इत्यारभ्य 'संयुनक्तु' इत्यन्तो मन्त्रः फलाधिकारिसमर्पणपरः। तथाहि । 'महर्षिर्महाद्रष्टा यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् अशेषविषयामोघशुद्ध-बुद्धिविजृम्भण' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपन्नाशेषविषयबोधसमृद्धः विश्वस्माच्चिदचिदात्मकप्रपञ्चादधिकः । कृत्स्नस्य पशुपाशवर्गस्य नियन्तृत्वाद्यो रुद्रो मुक्तानां संसारदुःखस्य द्रावकः देवः देवानां मध्ये प्रथमं हिरण्यगर्भं पुरस्तात् कल्पादौ स्वसङ्कल्पेन स्वस्माज्जायमानं करुणापरिपूर्णया सकलभुवनसृष्टिसामर्थ्य-वितरणविचक्षणया आज्ञादृष्टया अपश्यत् स देवः अस्मान् शुभया परमानन्दप्राप्तिकारिण्या 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति श्रुतिप्रसिद्धया स्वविषयया स्मृत्या संयोजय-त्विति । यस्मात्परमित्युत्तरमन्त्रोऽपि शिवपर एव । अत एव आश्वलायनस्मरणम्

'यस्मात् परतरं नास्ति नापरं च परात्मनः ।
न ज्यायोऽस्ति न चाणीयान् नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥
येनेदमखिलं पूर्णं यन्मायामूर्तयस्मृताः ।
तस्मै शिवाय महते नेमस्सूक्ष्माक्षरात्मने' ॥ इति ।

यदि तु 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इत्ययमेव मन्त्रः

'दहरं विपाप्मम् इति' विधायकमन्त्रादव्यवहितः अधिकारिफलसमर्पक इत्याग्रहः तदा वेदान्तविज्ञानेत्यत्र विज्ञानशब्देन परोक्षज्ञानं, संन्यासयोगादिति संन्यासशब्देन कर्मफलसंन्यासः, यतयो यतनशीलाः, अपरोक्षज्ञानार्थं दहरविद्यायां यत्नं कुर्वन्तः परामृतादुपास्यसाक्षात्कारात् परिमुच्यन्तीति व्याख्येयः । तथा च सत्यवादिधर्माद्यनुष्ठानपरः बाह्यविषयतृष्णारहितः ब्रह्मचर्यवान् उपास्यविषये श्रद्धाभक्तियुतः एकान्तप्रियः शुचिः योगरसिकः निगृहीतबाह्यान्तःकरणः संक्षालितकामक्रोधादिमलः कर्मफलत्यागी उपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तं दहरविद्यायां यतनशीलः मुमुक्षुर्द्विजः गुरुभक्तः अधिकारीत्युक्तो भवति ।

एवं च एतादृशः अधिकारी पुरस्थानापन्नस्य स्वशरीरस्य मध्ये विद्यमानं द्वारपालादियुक्तत्वेन वेश्मस्थानीयं हृदयपुण्डरीकं विरजं उपासकान्तःकरणस्य विषयवैतृष्ण्येन तदुपभोगजनितकालुष्यराहित्यात् निर्मलं, तदाधारत्वात् पुण्डरीकमपि विरजम् अत एव विशुद्धम् । अत एव तैत्तिरीयके 'दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतं यत् पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्' इत्युक्तम् । दहरं स्वल्पपरिमाणं, विपाप्मं विगतपापं सर्वदुरितरहितं, परवेश्मभूतं परवेश्म राजभवनादि तद्भावमापन्नं उपासकानुग्रहाय निर्मितमनवद्यं वेश्म पुण्डरीकं पुण्डरीकसदृशं पुण्डरीकाख्यं वा हृदयं । कैवल्योपनिषदि विरजं विशुद्धं विचिन्त्येति

विद्यमानत्वाद् अत्राप्येवंभूतं विचिन्त्य । 'तत्रापि दहरं गगनं विशोकः' तत्रापि तथा दह्रेपि तस्मिन् स्थाने ततोऽपि दह्रं तदन्तर्गतत्वाद्यत् गगनं गगनसंज्ञं अव्याकृताकाशं मायाशबळितं ब्रह्म सर्वस्थूलसूक्ष्मकार्यसमष्टिभूतसूत्रात्मनोऽपि कारणभूतं, विशोकः तत्र प्रविष्टानां दुःखाभावस्तस्य शोकराहित्यं । 'तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यं' तस्मिन्नव्याकृताकाशे यन्निरुपाधिकं तत्वं तस्याव्याकृतस्य विशिष्टवेषेणाध्यस्तत्वात् तस्यापि सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन तदन्तरस्तत्सारभूततया विद्यमानं तदुपासितव्यम्। उक्तं चान्यत्र–'कस्मिन् खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति गार्गिप्रश्नानन्तरं 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' इति याज्ञवल्क्येन अक्षरशब्दवाच्यं ब्रह्मेति । यद्वा 'तत्रापि दहरं गगनं विशोक' इति दहरशब्दवाच्यं छान्दोग्योक्तरीत्या मुख्यं ब्रह्मैव । तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यमिति तस्मिन् ब्रह्मण्युपासकानुग्रहार्थमतिगुह्यतया विद्यमानं 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' इत्यादिना वक्ष्यमाणं परमेश्वरस्य लीलाविग्रहरूपमुपासितव्यमिति । एवं च उपासकः अहन्नारायण इति स्वात्मानं नारायणात्मतया विभाव्य तस्य हृदये परमेश्वरं ध्यायेदिति । यद्वा उपासकः स्वस्य हृदये सहस्रशीर्षं देवमित्याद्युक्तप्रकारेण नारायणं ध्यात्वा सोऽहमिति विचिन्त्य स्वाभिन्नत्वेन स्वोपास्यस्य नारायणस्य हृदये परमेश्वरं ध्यायेत् ।

ननु नारायणाभिन्नत्वेन परमेश्वरं परिचिन्त्य स्वस्य हृदये तादृशपरमेश्वर एव उपास्योऽस्तु । न च परमेश्वरस्य नारायणात्मत्वं विरोधान्न संभवतीति वाच्यम् । विरोधस्यैवाभावात् । तथा हि कस्मिन्नंशे विरोधः । किं परतत्वांशे विरोधस्सर्वात्मत्वे वा विश्वाधिकत्वांशे वा सर्वकारणत्वाद्यंशे वा लीलाविग्रहरूपमूर्त्यंशे वा ? न तावदाद्यः, अद्वितीयपरिपूर्णपरमानन्दस्वप्रकाशप्रत्यगभिन्नः परमात्मा एक एवेति मते जीवस्यापि परमात्मत्वं कालत्रयेऽपि विद्यत इति तत्वमस्यादिश्रुत्युक्तेः 'नारायणपरं ब्रह्म तत्वं नारायणः परः' इत्यादिश्रुतेश्च । नापि द्वितीयः, 'सहस्रशीर्षं, विश्वाक्षं, विश्वं, विश्वात्मानं, सर्वं व्याप्य नारायणः स्थित' इत्यादिना सर्वात्मत्वप्रतीतेः । 'सर्वाननशिरोग्रीवस्सर्वभूतगुहाशयः । सर्वव्यापी च भगवान् तस्मात् सर्वगतश्शिवः ॥' इति, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षस्सहस्रपात्' इति, 'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥' इत्यादिमन्त्रोपनिषदादौ यथा शिवस्य सर्वात्मत्वं वर्णितं एवं नारायणस्यापि तत्सिद्धम् । नापि तृतीयः, 'विश्वाधिको रुद्र' इतिवद् 'विश्वतः परमन्नित्यमि' ति विश्वापेक्षया प्रकृष्टत्वश्रवणात् । नापि चतुर्थः, यथा अथर्वशिखाथर्वशिरश्श्वेताश्वतरोपनिषदादौ शिवस्य सर्वकारणत्वसर्वान्तर्यामित्वसर्वोपसंहर्तृत्वादिकं प्रतिपादितम्, एवं नारायणस्यापि नारायण-

सुबालात्मप्रबोधोपनिषदादौ तत्प्रतीतेः । नापि पञ्चमः, ब्रह्मविष्णुरुद्राणां त्रयाणामपि मूर्तीनामभेदस्य तापनीये 'अकारं ब्रह्माणं नाभौ उकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये' इति च प्रस्तुत्य तथा 'ब्रह्माणमेव विष्णुमेव रुद्रमेव विभक्तांस्त्रीनेवाविभक्तांस्त्रीनेव लिङ्गरूपानेव च संपूज्य' इति मूर्तित्रयात्मकस्य नाभ्यादौ पूजाया विहितत्वात् । यथा मूर्तित्रयात्मकत्वमेवास्य एवं हृदये उपास्यं विष्णुशिवात्मकमस्तु । न विभक्तांस्त्रीनेवाविभक्तांस्त्रीनेवेति वचनस्य विद्यमानत्वात्तत्र ब्रह्मविष्णुरुद्रलीलामूर्तित्रयात्मकमेकमुपास्यं संभवति । व्यांख्यातं च भाष्यकारेण नैवमत्र शिवनारायणमूर्त्यात्मकमुपास्यं प्रतीयते । ननु अत्रापि 'शाश्वतं शिवमच्युतम्' इति शिवाच्युतयोर्भेदः प्रतीयते । मैवम् । अत्र शिवशब्देन योगरूढ्या निरवधिकपरमानन्दस्वरूपपरमशिव उच्यते । अच्युतशब्देनापि कालत्रयेऽपि च्युतिरहितः परमात्मा नारायण उच्यते । एवं च उभयोस्तत्त्वांशे अभेदोऽस्तु । न तु लीलाविग्रहांशे । ननु कृष्णपिङ्गळमिति पदस्य उपास्यस्वरूपसमर्पकमन्त्रे विद्यमानत्वात् शङ्करनारायणात्मकं लीलाविग्रहरूपमेवास्तु । न । कृष्णपिङ्गळशब्देन अर्धनारीश्वरस्वरूपमेवोच्यते । न तु पूर्वोक्तरूपम् । ननु अत्र पुरुषं कृष्णपिङ्गळमिति गौरीवामभागात्मकार्धनारीश्वरमूर्तौ यथाप्रमाणम् ? इदमेव नारायणवामभागात्मकशङ्करनारायणात्मकमूर्तौ प्रमाणम् । तथा

च कृष्णा च कृष्णश्च कृष्णौ । पिङ्गळशब्देन पिङ्गळवर्णविशिष्टश्शिव उच्यते । एवं च परमेश्वरस्य देहपरिजिघृक्षायां देवीविष्ण्वात्मकश्यामळवर्णवामभागयुक्ता शिवात्मकपिङ्गळवर्णदक्षिणभागयुक्ता च एका मूर्तिस्सैव हृदये ध्येया ।

'एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य
भिन्ना चतुर्धा विनियोगकाले ।
भोगे भवानी पुरुषे च विष्णुः
कोपे च काळी समरे च दुर्गा' ॥

इत्यागमिकोपदेशात् ।

'उमा या सा हरिस्साक्षाद्यो हरिस्सा शिवा स्मृता' इत्यादिवचनात् ।

'प्रकृतिस्त्वं पुमान् रुद्रस्त्वयि तद्वीर्यमास्थितम् ।
त्वन्नाभिपङ्कजाज्जातः पञ्चवक्त्रः पितामहः' ॥

इति ब्रह्माण्डपुराणे ।

'नावयोर्विद्यते भेदो मच्छक्तिस्त्वं न संशयः ।
त्वं चन्द्रमा अहं सूर्यः शर्वरी त्वमहं दिनम्' ॥

इत्यादित्यपुराणे च विष्णोश्शिवशक्तित्वव्यपदेशात् । कूर्मवासिष्ठलैङ्गादित्यपुराणादिषु शिवनारायणयोर्भर्तृभार्याभावेन देवदारुवनप्रवेशोपवर्णनात् । तत्प्रकरणे 'या तस्य पार्श्वगा बाला सा पार्वत्यंशजो हरिः' इत्याद्युक्तेश्च । आदित्यपुराण एव–

'या उमा सा स्वयं विष्णुर्यो विष्णुस्स हि चन्द्रमाः ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं ते नमस्यन्ति शङ्करम् ॥
येऽर्चयन्ति हरिं भक्त्या तेऽर्चयन्ति वृषध्वजम् ।
ये द्विषन्ति विरूपाक्षं ते द्विषन्ति जनार्दनम् ॥
ये रुद्रं नाभिजानन्ति ते न जानन्ति केशवम्' ॥

इति । देव्यात्मकविष्ण्वभेदश्शिवस्य सिद्ध इति चेत् ? अत्यल्पमिदमुच्यते । तत्रैवादित्यपुराणे–

'सर्वदेवात्मको रुद्रस्सर्वे देवाश्शिवात्मकाः ।
रुद्रस्य दक्षिणे पार्श्वे रविर्ब्रह्मा त्रयोऽग्नयः ॥
वामपार्श्वे महादेवी विष्णुस्सोमः पितृत्रयम्' ।

इति सर्वदेवात्मकत्वाच्छिवस्य । किञ्च 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु' इत्यादिना सर्वस्य सर्वात्मत्वोक्तिपुरस्सरं सर्वेषां परमात्मपर्यवसानमुक्तं मधुब्राह्मणे । तस्मादत्र उपास्यस्वरूपमर्धनारीश्वरात्मकमेव प्रकृते 'ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षम्' इति विशेषणद्वयात्, श्रुत्यन्तरगतोमासहायत्वादिगुणोपसंहाराच्च । किञ्चायं मन्त्रः भट्टभास्करेणपि एवमेव व्याख्यातः ।

ननु एते प्रकारा भाष्यकारेण न प्रदर्शिताः ? न, तत्र तत्र प्रदर्शिता एव । किं परशिवस्य ध्येयत्वमेव न प्रदर्शितम्, उत दहरविद्याविषयत्वम्, अथवा लीलाविग्रहरूपं उमासहायादिरूपं वा,

ब्रह्मविष्ण्वाद्युपास्यत्वं वा, विष्णोर्देव्यात्मत्वं वा । न तावदाद्यः । 'अन्तरउपपत्तेरि' त्येवमादिसूत्रेषूपास्यत्वं परमेश्वरस्य प्रदर्शितम् । तत्र हि उपकोसलाविद्याविषयसंशयप्रदर्शनवेळायां किमयं प्रतिबिम्बात्माक्ष्यधिकरणे निर्दिश्यते उत देवतात्मा इन्द्रियस्य अधिष्ठाता, अथ भोक्ता, अथवा ईश्वर इति परमशिववाचक ईश्वरशब्द एव प्रयुक्तः । अस्मिन्नेव सूत्रे 'अत उपपत्ते-रन्तरः परमेश्वर' इति तद्वाचकशब्द एवोक्तः । एव-मनेकासु सगुणविद्यासु निर्गुणविद्यासु च परमेश्वर इति परमेश्वरशब्द एव तत्र तत्र प्रयुक्तः । नापि द्वितीयः । 'दहर उत्तरेभ्य' इत्यत्रैवाधिकरणे स भूताकाशः अथ विज्ञानात्मा अथ परमात्मा इति संशयदशायां परमात्मेति प्रदर्श्य, उत्तरत्र परमात्मपदं विहाय, 'अत उत्तरं ब्रूमः परमेश्वर एव दहराकाशो भवितुमर्हती' ति । परमेश्वरशब्दप्रयोगस्तु (न) देवतान्तरसाधा-रणस्स्यात् । किञ्च उमासहायं परमेश्वरमिति दहरविद्यागतपरम-शिवविषयोमासहायशब्दसामानाधिकरण्याच्च तच्छब्दस्य तद्विष-यत्वं निश्चीयते । न च उमासहायत्वादिगुणोपसंहारव्यवहारो भाष्यकारेण न कृत इति वाच्यम् । सत्यकामत्वादिगुणो-पसंहारेऽपि भाष्यकारस्यानादर एव । प्रकृतोपयोगितया सत्य-कामस्सत्यसंकल्प इत्यादिग्रन्थव्याख्यान कृतम् । अतएव

छान्दोग्यभाष्ये 'अथ यदि तस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' इति ग्रन्थव्याख्यानावसरे तात्पर्यार्थकथनपरं भाष्यं शृणुत–'तत्र यत् ब्रूथ पुण्डरीकान्तस्स्थस्य खस्याल्पत्वात् तत्स्थमल्पतरं स्यादिति, तदसत् । न हि खं पुण्डरीकवेश्मगतं पुण्डरीकादल्पतरं मत्वेत्यवोचाम दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति । किं तर्हि ? पुण्डरीकमल्पं तदनुविधायि तत्स्थमन्तःकरणं पुण्डरीकाकाशपरिच्छिन्नम् । तस्मिन् विशुद्धे संहृतकरणानां योगिनां स्वच्छ इव उदके प्रतिबिम्बरूपमादर्श इव शुद्धे स्वच्छं विज्ञानज्योतिस्स्वरूपावभासं तावन्मात्रं ब्रह्म उपलभ्यत इति दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति अवोचामान्तःकरणोपाधिनिमित्तम्'–इति । एवं च उपासनार्थं प्रवृत्तस्योत्तमाधिकारिणः 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इति वाक्यार्थज्ञानवेळायामेव उपास्यसाक्षात्कार इति प्रकृतसत्यकामत्वादिगुणोपसंहारेऽप्यनादरः । मध्यमाधिकारिणां तु सत्यकामत्वादिगुणा वशित्वादिगुणाः शाखान्तरीया उमासहायत्वादिगुणाश्च उपसंहर्तव्या एव । यथोक्तगुणविशिष्टतया उपासनायां कृतायामन्त्यकाल एव उपास्यसगुणब्रह्मसाक्षात्कारश्शास्त्रप्रामाण्यात् भवतीति गुणोपसंहारन्यायो दर्शितः । नापि तृतीयः, 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशादि'–त्यधिकरणे'–'लोककामेशितृत्वमपि निरङ्कुशं श्रूयमाणं परमेश्वरं गमयति । यत्तूक्तं हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूप-

श्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यत इति' अत्र ब्रूमः । स्यात् परमेश्वरस्यापि इच्छावशाद् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थं 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि॥' इति (स्मरणात्) । अपि च यत्र निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपमुद्दिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम् 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि । सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते–'सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसः' इत्यादिना । तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति'–इति । एवं वैश्वानराधिकरणे 'अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः' इति सूत्रस्य भाष्यम्, 'अतिमात्रस्यापि परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यात् । अभिव्यज्यते किल प्रादेशपरिमाणः परमेश्वर उपासकानां कृते । प्रदेशेषु वा हृदयादिषु स्थानेषु विशेषेणाभिव्यज्यते । अतः परमेश्वरेऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरभिव्यक्तेरुपपद्यत इति आश्मरथ्य आचार्यो मन्यते' इति । नापि चतुर्थः, 'परमशिवपर्यङ्कनिलयां' इति । 'महामाये विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि' इति,

'भवान्यै भवायापि मात्रे च पित्रे
मृडान्यै मृडायाप्यघघ्न्यै जनिघ्न्यै (मखघ्ने)।
शिवाङ्गयै शिवाङ्गाय कुर्मश्शिवायै
शिवायाम्बिकायै नमस्त्र्यम्बिकायै' (त्र्यम्बकाय)' ॥ इति

सौन्दर्यलहरीभुजङ्गादौ उमासहायमूर्तेः प्रदर्शितत्वात् । एवमर्धनारीश्वरमूर्तिरपि प्रदर्शिता–

'प्रवाळप्रवाहप्रभाशोणमर्धं
मरुत्वन्मणिश्रीमहश्श्याममर्धम् ।
गुणस्यूतमेकं वपुश्शैवमन्तः
स्मरामःस्मरापत्तिसंपत्तिहेतुम्' ॥

इति । नापि पञ्चमः,

'शिवश्शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलस्स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि'

इति विष्ण्वाद्युपास्यत्वं शिवस्योक्तम् । ननु शक्तिभूताया देव्या एव विष्ण्वाद्युपास्यत्वं प्रतीयते न तु शिवस्य इति चेद् ? अयं न्यायः न्यायविद्भिरुपहसनीयः, त्वद्धस्तेनैव दत्तं न तु त्वया दत्तमिति यद्वत् ।

'तनीयांसं पांसुं तव चरणपङ्केरुहभवं
विरिञ्चस्सञ्चिन्वन् विरचयति लोकानविकलम् ।
वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसां
हरस्संक्षुद्यैनं भजति भसितोद्धूळनविधिम्' ॥

इति तत्रैव ।

'विरिञ्चादिभिः पञ्चभिर्लोकनाथै-
स्समूढे महानन्दपीठे निषण्णम् ।

धनुर्बाणपाशाङ्कुशप्रोतहस्तं
महस्त्रैपुरं शङ्कराद्वैतमव्यात् ॥
त्वदुन्मेषलीलासु लब्धाधिकारान्
विरिञ्चादिकांस्त्वद्गुणाम्भोधिबिन्दून् ।
भजन्तस्तितीर्षन्ति संसारसिन्धुं
शिवे तावकीयास्तु किं वा भवेयुः' ॥

इति देवीभुजङ्गे ।

'अनाद्यन्तमाद्यं परं तत्वमर्थं चिदाकारमेकं तुरीयं त्वमेयम् ।
हरिब्रह्ममृग्यं परब्रह्मरूपं मनोवागतीतं महश्शैवमीडे' ॥

इति शिवभुजङ्गे । नापि षष्ठः,

'हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं
पुरा नारीभूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्'

इति सौन्दर्यलहर्यामेवोक्तम् ।

ननु ब्रह्मविद्यार्थिनस्संन्यासोऽपि शमदमादिवत् साधनमिति भाष्यकारेण सर्वत्र दर्शितम् । उपदेशपञ्चकेऽपि,

'वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्'

इत्यादिना मुमुक्षोर्धर्मान् विधाय संसारदोषदर्शनानन्तरं. 'शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु सन्त्यज्यताम्' इति संन्यासोऽपि ब्रह्मविद्यासाधनत्वेन दर्शितः । सत्यं, निर्गुणब्रह्मविद्यासाधनत्वेनैव संन्यासः प्रदर्शितः उत्तमाधिकारिणं प्रति । अत एवोपदेशपञ्चकग्रन्थस्यान्ते,

'प्राक्कर्म प्रविलाप्यताञ्चितिबलान्नाप्युत्तरैःश्लिष्यतां
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ।'

इत्युत्तमाधिकार्येवोपसंहृतः । मध्यमाधिकारिणं प्रति तु कर्मसमुच्चितमेव ज्ञानं दर्शितं प्रश्नोत्तररत्नमालिकायां, 'किं मोक्षतरोर्बीजं सम्यक् ज्ञानं क्रियासहितम्' इति ।

'दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमायुतं शौर्यं ।
वित्तं त्यागसमेतं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम्' ॥

इति मध्यमाधिकारिविषयमेवोपसंहृतम् । किंच, 'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्' इत्यधिकरणे 'ननु अनारभ्यो मोक्षः, कथमस्य कर्मकार्यत्वमुच्यते ? नैष दोषः, आरादुपकारकत्वात् कर्मणः । ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत् कर्म, प्रणाल्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते, अत एव चातिक्रान्तविषयमेव तत्कार्यैकत्वाभिधानं, न हि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि संभवति अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेश्शास्त्रस्याविषयत्वात् । सगुणासु तु विद्यासु कर्तृत्वानतिवृत्तेस्संभवत्यागाम्यग्निहोत्रादि, तस्यापि निरभिसन्धिनः कार्यान्तराभावात् विद्यासंगत्युपपत्तिः' इति । तस्मात् सर्वं समञ्जसम् ।

दर्शितप्रकारद्वयेऽपि आद्यः प्रकारः प्रदर्श्यते । आद्यप्रकारस्तु 'तथा च सत्यवादिधर्माद्यनुष्ठानपर' इत्याद्यारभ्य (पृ. ४१), 'एवं च उपासकः अहं नारायण इति स्वात्मानं नारायणात्मतया विभाव्य तस्य हृदये परमेश्वरं ध्यायेत्' इत्यन्तेन (पृ. ४२) पूर्वग्रन्थेन प्रदर्शितः । तत्रापि नारायणस्वरूपं 'सहस्रशीर्षं देवम्'

इत्यारभ्य 'पद्मकोशप्रतीकाशम्' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन वर्णितम् । अनन्तरं 'पद्मकोशप्रतीकाशम्' इत्यारभ्य 'परमात्मा व्यवस्थितः' इत्यन्तेन ग्रन्थेन हृदयादिकं प्रदर्शितम्, अनन्तरं परमेश्वरस्वरूपम् 'ऋतं सत्यम्' इत्युत्तरानुवाके प्रदर्शितम् । तथा हि 'सहस्रशीर्षं देवम्' इत्यारभ्य 'समुद्रेन्तं विश्वशंभुवम्' इत्यन्तेन ग्रन्थेन सर्वज्ञस्सर्वेश्वरो मायातत्कार्यभूतस्सर्वप्रत्यगात्मा सर्वानन्दकरस्सर्वोपसंहर्ता, विश्वातीतश्च नारायणः । एवंभूतो नारायणोऽहमिति परिचिन्त्य, अनन्तरं नारायणात्मकस्य स्वस्य शरीरस्यान्तर्नाभेरुपरि, द्वादशाङ्गुलपरिमितदेशे कमलमुकुळाकारं अधोमुखं सत्, ईषद्विकसितं समन्तान्नाडीभिर्विधृतं विश्वात्मन आयतनभूतम्, अत एव महत्, लम्बति प्रलम्बते तदेव हृदयमित्युच्यते । तस्य पुण्डरीकस्य मध्ये, सूक्ष्मं सुषिरमाकाशमस्ति । तस्मिन्नाकाशे सर्वं चेतनात्मकं जीवविराड्ढिरण्यगर्भेश्वरादि, परं ब्रह्म च प्रतिष्ठितं निश्चलं तिष्ठति, तस्य हृदयसुषिरस्य मध्ये महानग्निर्वैश्वानरः ज्वलति सर्वतः प्रसरज्ज्वालः सर्वतोमुखः भुक्तस्यान्नस्य जरयिता जठराग्निरूपेण स एव मुख्यवैश्वानररूपेण सर्वज्ञः वह्निसामान्यरूपेण आपादतलमस्तकं पादाग्रप्रभृति शिरःपर्यन्तमौष्ण्यं करोति । एवं भूतस्य वह्नेश्शिखापि हृदये तिष्ठति । सा अणीयोर्ध्वा अणीयसामूर्ध्वा सजलजलदपटलमध्यवर्तिनी विद्युल्लेखेव दीप्यमाना अतितनु-

प्रमाणा तप्तकाञ्चनदीप्तिः । तस्याश्शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः वर्तते । 'पद्मकोशप्रतीकाशम्' इत्यारभ्य 'परमात्मा व्यवस्थितः' इत्यन्तेन ग्रन्थेन यद्यद्वस्तु निरूपितं तत् सर्वं सर्वेषां शरीरे विद्यमानमेवेति शास्त्रप्रामाण्यान्निश्चीयते । अत्र उपासकेन उपासनकाले हृदयपुण्डरीकस्य ऊर्ध्वीकरणम् अविद्यमानं भावनीयम् । इतरस्य सर्वस्य विद्यमानस्यैव चिन्तनम् ।

'तस्याश्शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थित' इत्युक्तं, स परमात्मा कीदृग्भूत इत्यपेक्षायां प्रणवशब्दवाच्यः महेश्वरनामकः इत्यप्यादावेवोपक्षिप्तम् । तस्य परमात्मनः हृदयपुण्डरीकस्थ-सुषिरवर्तिवह्निशिखामध्यवर्तिनः, उपासनार्थमुपनिषच्चतुष्टयेऽपि उक्तविशेषणानां निर्गुणसगुणलीलाविग्रहमूर्तिपराणां क्रमेण अर्थो वर्ण्यते । ऋतम् अवितथस्वभावं, सत्यं कालत्रयेऽपि बाधशून्यं परं ब्रह्म, अपरब्रह्मभ्यो हिरण्यगर्भादिभ्यः परम् उत्कृष्टं, ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तरूपं, पुरुषः सर्वासु पूर्षु शेत इति पुरुषः, अपिपासः पानेच्छारहितः, अपहतपाप्मा अपहतः नाशितः पाप्मा धर्माधर्माख्यो यस्य । विजरः विगतजरः, विमृत्युः मृत्युरहितः, विशोक विगतशोकः, विजिघत्सः विगताशनेच्छः, विशादः निर्मलः, अचिन्त्यः प्रकाश्यत्वेन अन्तःकरणवृत्त्यविषयः, अव्यक्तः शब्दाद्यशेषविशेषशून्यः, अनन्तरूपः अनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितं रूपं यस्य, शिवः मङ्गळरूपः, प्रशान्तः अविद्यातत्कार्यदोष-

रहितः, अमृतः अमरणधर्मकः, आदिमध्यान्तविहीनः उत्पत्तिपरिच्छेदविनाशवर्जितः, एकः द्वितीयवस्तुमात्ररहितः, विभुः व्यापी, चिदानन्दः स्वयम्प्रकाशमाननिरतिशयानन्दः, अरूपः रूपरहितः, सत्यकामः सत्याः अवितथाः कामाः ब्रह्मलोकप्राप्त्यनन्तरं यस्य यस्य उपासकस्य ये ये इच्छाविषयाः पित्रादिस्त्रीपर्यन्ता गृहारामादयः अणिमादयो वा अन्येषामलभ्याः यस्य सत्यकामः, अत एव 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ति'इति प्रकृतात्मोपासनव्यतिरेकेण 'एतांश्च सत्यान् कामान्' इति कामानामपि पृथगुपासनमुक्तम् । सत्यसङ्कल्पः कामहेतवस्सङ्कल्पा अपि सत्याः यस्य सः सत्यसङ्कल्पः, सर्वस्य वशी सर्वस्य ब्रह्मादेर्वशी, सर्वस्येशानः ईशिता च ब्रह्मेन्द्रप्रभृतीनां, सर्वस्याधिपतिः अधिष्ठाय पालयिता स्वतन्त्र इत्यर्थः । ब्रह्मयोनिः ब्रह्मणः हिरण्यगर्भस्य वेदस्य वा योनिः कारणम् । परमेश्वरः उत्कृष्टब्रह्मादिनियन्ता, प्रभुः सर्वक्रियासमर्थः, विश्वरूपः विश्वत्वेन सर्वचेतनाचेतनत्वेन स्थितं रूपं स्वरूपं यस्य स तथा, सर्वात्मेति यावत् । कृष्णपिङ्गळः देहपरिजिघृक्षायां स्त्रीपुंसशबलाकारः, पराशक्त्यविनाभूतो वा । उक्तं च भाष्यकारैः 'पराशक्तिमित्रं नुमः पञ्चवक्त्रम्' इति । अथवा कण्ठे कृष्णं ललाटे पिङ्गळं रूपं यस्य । ऊर्ध्वरेताः सदा सन्दीप्ततपस्कः, अनेन धर्मज्ञानवैराग्यसंपन्नः, भस्मोद्धूलिताङ्गस्त्रिपुण्ड्रावलिदीप्तः,

रुद्राक्षमालाभरणः, जटामुकुटमण्डितः, सर्वदा स्वात्मध्यानपर इत्युक्तं भवति । विरूपाक्षः विषमलोचनः, विशोकः दुःखसंस्काररहितः आनन्दपूर्णहृदयः, स्मेराननश्च, उमासहायः उमा ब्रह्मविद्या भवानी सहायो यस्य स तथा, यद्वा उमा सैव वामभागरूपेण सहायः यस्यार्धनारीश्वरस्य स तथा, त्रिलोचनः त्रीणि लोचनानि सोमसूर्याग्निरूपाणि यस्य, नीलकण्ठः कालकण्ठः, प्रशान्तः प्रसन्नेन्द्रियवदनः । ननु प्रशान्तत्वे अविद्यातत्कार्यहीनत्वे कथं विशदेशित्वादिकम्, अरूपत्वे वा कथं त्रिलोचनत्वादिकं, विगतेशित्वादौ वा कथं सत्यकामत्वादिकम्, एकत्वे वा कथं विश्वरूपत्वं वशित्वादिकम्, उमासहायत्वे वा कथमूर्ध्वरेतस्त्वं, विग्रहवत्त्वे वा कथं विजरत्वादिकम्, इत्येवमादिविरोधशङ्कापरिहारार्थमद्भुतमिति विशेषणम् । अद्भुतः आश्चर्यकरः 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति, 'एकमेवाद्वितीयमि' त्यादिश्रुतिवशात् स्वभावतः एकत्वारूपत्वादिकं, मायावशात् वशित्वादिकं च सर्वमुपपद्यते । उक्तं च सूत्रकारेण 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' इति । इदमस्य भाष्यं, 'चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे, परैरुपक्षिप्तान् विलक्षणत्वादिदोषान् पर्यहार्षीदाचार्यः । इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणमारिप्समान स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति– यस्मादस्मिन् ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे

प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते, सर्वज्ञं सर्वशक्ति, महामायं च ब्रह्मेति, तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनम्' इति ।

अनन्तरं फलनिरूपणं क्रियते । ननु उपनिषच्चतुष्टयेऽपि एकरूपतया फलं न प्रतीयते । तथा हि, छान्दोग्ये तावत् 'स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' इत्युपक्रम्य 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति आदित्योपलक्षितार्चिरादिमार्गद्वारा मूर्धन्यया नाड्या देहान्निर्गमनपुरस्सरं ब्रह्मलोकप्राप्तिः फलं प्रतीयते । बृहदारण्यके तु 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' इति जीवन्मुक्तिरेव फलं प्रतीयते । तैत्तिरीयके 'स नो देवश्शुभया स्मृत्या संयुनक्तु' इत्यादिना ज्ञानादिकमेव फलम् । कैवल्ये तु 'ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्' इति अज्ञानासंस्पृष्टसर्वसाक्षिस्वरूपब्रह्मप्राप्तिरूपं विरूपं विरुद्धमेव ध्यानफलं प्रतीयत इति चेद् ? अत्रोच्यते, कैवल्ये तावत् 'समस्तसाक्षिं तमसः परस्तादि' त्यनेन मायासंस्पर्शरहितं केवलचैतन्यस्वरूपं निरुपाधिकं वस्तु नोच्यते, भूतयोनिशब्दसामानाधिकरण्यात्; किं तर्हि ? मायया अवशीकृतं वशीकृतमायातत्कार्यं सर्वज्ञम् आकाशादिभूतभौतिककारणं सोपाधिकमेव परमशिवस्वरूपमर्चिरादिमार्गेण गत्वा, गच्छति प्राप्नोतीति । इतोऽपि परमेश्वर एवोपास्यः, यतः ब्रह्मरुद्रेन्द्रादयस्तद्विभूतयः

इत्याह श्रुतिः 'स ब्रह्मा स शिवस्सेन्द्रस्सोऽक्षरः परमस्वराट् स एव विष्णुस्स प्राणस्स कालोऽग्निस्स चन्द्रमाः स एव सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं सनातनम्' इति । अनन्तरमपि निरुपाधिकस्य तस्यैव परमशिवस्य प्रत्यगात्मत्वेन ज्ञानात् कैवल्यमुक्तिरित्याह श्रुतिः 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये' इति । यदुक्तं तैत्तिरीयके 'स नो देव' इत्यादिना ज्ञानमेव फलमुक्तमिति, यदि तत्र ज्ञानं निर्गुणसाक्षात्काराभिप्रायं, तर्हि क्रममुक्त्यभिप्रायं तत् । यदि उपास्यब्रह्मविषयकं, तर्हि उपासकस्य शरीरावसानकाले 'तदोकोग्रज्वलनम्' इति न्यायात् उपास्यसाक्षात्काराभिप्रायमेव । बृहदारण्यके तु तत्र उपासना न विवक्षितैव, सत्यकामत्वादिगुणानां तत्र ज्ञेयब्रह्मस्तुत्यर्थत्वमेवोपसंहृतमिति पूर्वमेवोक्तम् । छान्दोग्ये तु 'वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च' इत्यारभ्य 'समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य' इत्यन्तेन सूत्रसन्दर्भेण, 'अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां संपद्यते' इति प्रायणविषया श्रुतिर्व्याख्याता । प्राणस्तेजसीति तेजश्शब्दवाच्यं साध्यक्षं सप्राणं सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं प्रयतः पुंसः परस्यां देवतायां संपद्यत इति । 'तदापीतेस्संसारव्यपदेशात्' इति सूत्रे 'तत् तेजआदिभूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतं

आपीतेरासंसारमोक्षात् सम्यङ्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते' इत्यप्युक्तम् । 'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्' इत्यारभ्य 'तानि परे तथा ह्याह' इत्यन्तेन सूत्रसन्दर्भेण निर्गुणब्रह्मविदुष इहैव लिङ्गशरीरनाशो दर्शितः, सगुणब्रह्मविद्यावतः 'तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया' इति मूर्धन्यया नाड्या उत्क्रान्तिरुक्ता । इदमस्य भाष्यं–तस्य उपसंहृतवागादिकलापस्य उच्चक्रमिषोर्विज्ञानात्मन ओक आयतनं हृदयं 'स एतास्तेजोमात्रास्समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' इति श्रुतेः । तदग्रज्वलनपूर्विका चक्षुरादिस्थानापन्ना च उत्कान्तिश्श्रूयते 'तस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा, मूर्ध्नो वा, अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' इति । सा किमनियमेनैव विद्वदविदुषोर्भवति अथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियम इति प्राप्तावाचष्टे–समानेऽपि विद्वदविदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्धस्थानादेव विद्वान् निष्क्रामति, स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे। कुतः ? विद्यासामर्थ्यात् यदि विद्वानपीतरवत् यतः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रामेत् नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत, तत्रानर्थिकैव विद्या स्यात् । तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च; विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसंबन्धा गतिरनुशीलयितव्या

विद्याविशेषेषु विहिता, तामभ्यस्यन् तयैव प्रतितिष्ठत इति युक्तम् । तस्माद् हृदयालयेन ब्रह्मणा सूपासितेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान् मूर्धन्ययैव शतादतिरिक्तया एकशततम्या नाड्या निष्क्रामति, इतराभिरितरे । तथा हि हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति

'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः
तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' ॥

इति । एतत्सर्वं दहरविद्यायां विहितमेव । किञ्च सगुणब्रह्मविद्यावतः मार्गचिन्तनमपि कर्तव्यमिति उत्क्रान्त्यनन्तरमर्चिरादिमार्गप्रकारोऽपि चिन्तितः 'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः' इत्यारभ्य 'वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः' इत्यन्तैः सूत्रैः ।

एतेषां निष्कृष्टोऽर्थः प्रदर्श्यते– उपासकः रश्मिसमन्वितया मूर्धन्यया नाड्या लिङ्गशरीरयुक्तः सन् स्वदेहाद् निष्क्रम्य अग्निदैवतं प्राप्नोति, तेन नीतः अहरभिमानिदैवतम्, तेन नीतः पूर्वपक्षाभिमानिनम्, तेन नीतः उत्तरायणाभिमानिनो दैवतान्, तैर्नीतः संवत्सराभिमानिनम्, तेन नीतो देवलोकाभिमानिनम्, तेन नीतो वायुदैवतम्, वायुकृतेन रथचक्रस्थरन्ध्रतुल्येन रन्ध्रेण वायुनैव नीतः आदित्यं प्राप्नोति, तेन नीतः चन्द्रम् तेन विद्युदभिमानिदैवतम्, तत्र स्थितः सन् ब्रह्मलोकादागतेनामानवपुरुषेण विद्युल्लोकं प्राप्तेन राजोपचारयुतेन वरुणेन्द्रप्रजापतिकृतसाहाय्यानुष्ठानेन तल्लोकद्वारा च ब्रह्मलोकान् नीतो भवति इति 'ब्रह्मलोकान् गमयति',

'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' इत च श्रुतिषु बहुवचनश्रवणात् । उक्तं चान्यत्र श्रुत्या 'अथ यदितः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषु उत्तमेषु लोकेषु' इति लोकबहुत्वं, लोकेषु तरतमभावरूपं च ।

किञ्च दहरविद्यासाधनब्रह्मचर्यस्तुत्यर्थत्वेन 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्' इत्यारभ्य 'अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्' इत्यन्तेन ग्रन्थेन यज्ञादीनुक्त्वा, अनन्तरम् अरण्यायनशब्दव्याख्यानव्याजेन ब्रह्मलोकवर्णनमपि कृतम् 'अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि, तदैरं मदीयं सरः, तदश्वत्थः सोमसवनः, तदपराजिता पूः ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म; तद्य एवैतावरं च ण्यञ्चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति । इदमस्य भाष्यम्–'यजनाद् यज्ञः, एषणाद् इष्टम्, सतस्त्राणात् सत्त्रायणम्, मननाद् मौनम्, अनशनाद् अनाशकायनम्, अरण्ययोर्गमनाद् अरण्यायनम् इत्यादिभिर्महद्भिः पुरुषार्थसाधनैः स्तुतत्वाद् ब्रह्मचर्यं परं ज्ञानसहकारिकारणमित्यतो ब्रह्मविदा यत्नतो रक्षणीयमित्यर्थः' । तत्र हि ब्रह्मलोके अरश्च ह वै प्रसिद्धौ ण्यश्चार्णवौ समुद्रौ समुद्रोपमे सरसी वा, तृतीयस्यां भुवमन्तरिक्षं चापेक्ष्य तृतीया द्यौस्तस्यां तृतीयस्याम्, इतोऽस्माल्लोका-

दारभ्य गण्यमानायां दिवि तत्रैव ऐरम्– इरा अन्नं तन्मयः ऐरो मण्डः तेन पूर्णमैरं, मदीयं तदुपयोगिनां मदकरं हर्षोत्पादकं सरः, तत्रैव चाश्वत्थो वृक्षः सोमसवनो नामतः, सोमममृतं तन्निस्रवोऽमृतप्रसव इति वा, तत्रैव च ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्य-साधनरहितैः ब्रह्मचर्यवद्भ्योऽन्यैरब्रह्मविद्भिः न जीयत इत्य-पराजिता पूः पुरी ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणा च प्रभुणा विमितं विशेषेण मितं निर्मितं तच्च हिरण्मयं तच्च सौवर्णं प्रभुविमितमण्डमिति वाक्यशेषः । तत्तत्र ब्रह्मलोके एतावर्णवौ यावरण्याख्यावुक्तौ ब्रह्मचर्येण साधनेन विन्दन्ति तेषामेवैष यो व्याख्यातः ब्रह्मलोकः, तेषां च ब्रह्मचर्यसाधानवतां ब्रह्म-विदां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, नान्येषां ब्रह्मचर्यपराङ्-मुखानां विषयासक्तबुद्धीनां कदाचिदपीत्यर्थः' इति ।

दहरविद्याङ्गमन्त्रः

'श्यामाच्छबळं प्रपद्ये शबळाच्छ्यामं प्रपद्ये ।
अश्व इव रोमाणि विधूय पापं, चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य ।
धुत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवाम्यभिसंभवामीति'

इति । अस्य भाष्यम्–'श्यामात् शबळं प्रपद्ये इत्यादिमन्त्रा-म्नायः पावनो जपार्थ आध्यानार्थो वा । श्यामो गम्भीरवर्णः श्याम इव श्यामो हार्दं ब्रह्म अत्यन्तदुरवगाह्यत्वात् हार्दं ब्रह्म जित्वा ध्यानेन, तस्माच्छ्यामाच्छबळं, शबळ इव शबळोऽणि-

माद्यनेककाममिश्रत्वात् । ब्रह्मलोकं प्रपद्ये मनसा शरीरपाता-दूर्ध्वं गच्छेयं यत् यस्मादहं शबलात् ब्रह्मलोकात् नामरूपव्याकरणाय श्यामं प्रपद्ये हार्दभावं प्रपन्नोऽस्मीत्यभिप्रायः । अतस्त-मेव प्रकृतिस्वरूपमात्मानं शबलं प्रपद्ये इत्यभिप्रायार्थः । कथं शबलं ब्रह्मलोकं प्रपद्य इति ? उच्यते, अश्व इव स्वानि लोमानि विधूय कंपनेन श्रमं पांस्वादि च लोम्णामपनीय यथा निर्मलो भवति एवं हार्दब्रह्मजयेन विधूय पापं धर्माधर्माख्यं, चन्द्र इव राहुग्रस्तस्तस्माद्राहोर्मुखात् प्रमुच्य भास्वत्तरो भवति तथैवं धुत्वा प्रहाय शरीरं सर्वानर्थाश्रयमिहैव ध्यानेन कृतात्मा कृत-कृत्यस्सन् अकृतं नित्यं ब्रह्मलोकमभिसंभवामि, द्विर्वचनं मन्त्र-परिसमाप्त्यर्थम् इति ।

ननु स एनान् ब्रह्म गमयतीति कार्यब्रह्मप्रापकत्वममानवस्य प्रतीयते–ब्रह्मलोकान् गमयति, ते तेषु ब्रह्मलोकेष्विति च उपासकस्य कार्यब्रह्मलोकप्राप्तिः प्रतीयते, तेषां ब्रह्मलोकानां बहुत्वं च, 'विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु' इति लोकानां तरतमभावश्च । किं च 'देवो भूत्वा देवान् अप्येति' इति च देवबहुत्वं चेति चेद् ? उच्यते, मूर्धन्यनाडीयुक्ता-र्चिरादिगतिचिन्तनं 'श्यामाच्छबळं प्रपद्ये' इत्यादिमन्त्रोक्तध्यानपुर-स्सरं 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' इत्युक्त-प्रकारेण अंहग्रहोपासनं साक्षात्कारपर्यन्तं कृतवतः पूर्वोक्ताधि-

कारिणः कार्यब्रह्मप्राप्तिः सायुज्यमिति यावत् । अहंग्रहोपासकानामेव उपास्यसाक्षात्काररहितानाम्, अहंग्रहव्यतिरिक्तोपासकानां 'तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतस्स पुरुषोऽव्ययात्मा' इति मन्त्रोक्ताधिकारिणां ब्रह्मलोकप्रापककर्मनुष्ठायिनां च ब्रह्मलोकप्राप्तिः । तत्रापि योग्यतया सारूप्यसामीप्यसालोक्यम्। उक्तं च श्रुत्या 'एतासामेव देवतानां सायुज्यं सार्ष्टितां समानलोकतामाप्नोति' इति । उक्तं च भाष्यकारेण जगद्व्यापाराधिकरणे, 'ये सगुणब्रह्मोपासनात् सहैव मनसा ईश्वरसायुज्यं व्रजन्ति' इति कण्ठरवेणोक्तं सायुज्यमिदं च सगुणसायुज्यमेव । तदप्युक्तं तेनैव, 'विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह' इति सूत्रव्याख्यानावसरे 'विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपमस्ति, न केवलं विकारमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम्। तथा ह्यस्य द्विरूपा स्थितिमाह आम्नायः 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्येवमादिः । न च तद् निर्विकाररूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुम्, अतत्क्रतुत्वात् तेषाम् । अतश्च यदैवं द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुणा एव तिष्ठन्ति इति । एवं 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' इति सूत्रव्याख्यानावसरे 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' इति

श्रुतिरुदाहृता । अनेन उपासकस्य सालोक्यमप्यस्तीति सूचितं । एवं लोकबहुत्वं लोकानां तारतम्यं च अनावृत्तिसूत्रव्याख्यानावसरे सूचितं 'नन्वेवं सति सातिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात्ततश्च तेषामावृत्तिः प्रसज्येत इति अत उत्तरं भगवान् बादरायण आचार्यः पठति 'अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात्' इति । नाडी-रश्मिसमन्वितेनार्चिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति यस्मिन्नरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्म-लोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरं मदीयं सरो यस्मिन्नश्व-त्थस्सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिंश्च प्रभुवि-मितं हिरण्मयं वेश्म यश्चानेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते, तं ते प्राप्य न चन्दलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते। कुतः ? 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति,' 'तेषां न पुनरावृत्तिः,' 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते,' 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते,' 'न च पुनरावर्तते' इत्यादिशब्देभ्यः । अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथानावृत्तिस्तथा वर्णितं 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातःपरम् इत्यत्र इति । तत्र हि 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इत्युक्तं । अत्र मन्त्रार्थवादादीत्यादिशब्देन इतिहासपुराणादयो गृह्यन्ते । नन्वादिशब्देन इतिहासपुराणादयः उक्ता इति कथमवगन्तुं शक्यते ? उच्यते, देवताधिकरणादिषु भाष्यकारेण कण्ठर-

वेणोक्तत्वात् । तत्रहीदं भाष्यं 'मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवतादीनां विग्रहवत्त्वावगमात्' इति । तथा च इतिहास-पुराणादिषु ब्रह्मलोकः अनेकत्वेन तरतमभावेन च वर्णितः। एवं च ब्रह्मलोकप्रतिपादकौ मन्त्रार्थवादौ 'श्यामाच्छबळं प्रपद्ये' इति 'अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ' इति च पूर्वमेव प्रदर्शितौ । भारतनामके इतिहासे महाभिषग्गङ्गादिचरित्रवर्णनं ब्रह्मलोके प्रसिद्धमेव । शिवरहस्यनामके इतिहासे तृतीयांशादौ, श्रुतौ ब्रह्मलोकत्वेन वर्णितब्रह्मविष्णुशिवळोकादीनाम् अतिशयविशेषः, तेषां तरतमभावश्च बहुधा प्रपञ्चितः । पुराणेषु स्कान्दशिव-धर्मोत्तरादिषु ब्रह्मलोकातिशयः तेषां तरतमभावश्च वर्णितो दृश्यते । तथा हि स्कान्दे सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे तृतीयाध्याये देवलोकाद्यपेक्षया ब्रह्मलोकस्य उपरिभावः, तत्रापि अवान्तरवि-भागः, तत्र हि हिरण्यगर्भलोकापेक्षयाऽपि विष्णुलोकस्य उपरि-भावः तल्लोकापेक्षया रुद्रलोकस्य स प्रतीयते। तस्मिन्नध्याये हि

'यः पुमान् देवदेवेशं त्रिनेत्रं चन्द्रशेखरम् ।
उमार्धविग्रहं शुद्धं नीलग्रीवं महेश्वरम् ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानैरुपास्यं गुणमूर्तिभिः ।
उपास्ते तस्य विज्ञानं जायते पारमेश्वरम् ॥'

इति उमासहायादिविशिष्टमूर्तिमहंग्रहेणोपासीनस्य तस्य तत्साक्षा-त्कारद्वारा सगुणसायुज्यं प्राप्तस्य कमान्निर्गुणशिवसायुज्यप्रापकं निर्गुणशिवज्ञानं जायत इत्यप्युक्त्वा,

'अथवा चित्तकालुष्याच्छिवसारूप्यमच्युतम् ।
लब्ध्वा भुक्त्वा महाभोगानन्ते विज्ञानमैश्वरं ॥'

इत्यादिना चित्तपाकानुगुण्येन शिवलोकस्थितभोगेच्छावत-श्शिवसारूप्यं प्राप्य तत्र भोगान् भुक्त्वाऽन्ते शिवज्ञानमपि प्राप्नोतीति चोक्त्वा 'यश्शिवं गुणमूर्तीनामि' त्यादि 'रुद्रसारूप्यमन्यद्वा सायुज्यं विद्ययाप्नुयादि' त्यन्तेन ग्रन्थेन अधिकारद्यानुगुण्येन सारूप्यसालोक्यादिकमुक्त्वा अनन्तरं, अथवा विष्णुलोकादीनवाप्य

'तत्र गत्वा महाभोगानवाप्य कमलेक्षण ।
पृथिव्यां जायते शुद्धे ब्राह्मणानां कुले नरः' ॥

इति शिवलोकप्राप्त्यनन्तरं रागादियुक्तस्य पुरुषस्य विष्णुलोके आगत्य भोगान् भुक्त्वा, आदिशब्देन प्रजापतीन्द्रादिलोकानप्यागत्य तेष्वपि भोगान् भुक्त्वा, अनन्तरं भूमौ सत्कुले जायत इति अनेन शिवलोकापेक्षया विष्णुहिरण्यगर्भादिलोकानामधोभावः स्पष्टीकृतः । एवं शिवविष्ण्वादिलोकानामुपर्यधोभावः अस्मिन्नध्याये बहुधा प्रपञ्चितः । एवमेव शिवधर्मोत्तरे पाताळलोकमारभ्य तपोलोकपर्यन्तं त्रयोदशलोकानामुपरिभावं पूर्वपूर्वलोकापेक्षया उत्तरोत्तरलोकस्य योजनसंख्यापुरस्सरं वर्णयित्वा अनन्तरं 'सत्यलोकस्तपोलोकात् कोटिषट्कसमुच्छ्रितः ।' इति ब्रह्मलोकस्य तपोलोकापेक्षया उपरिभावमुक्त्वा अनन्तरं च ।

'ब्रह्मलोकाद्विष्णुलोको द्विगुणेन समुच्छ्रितः ।
विस्तरेण तदर्धं च दिव्यभोगसमन्वितः ॥

विष्णुलोकाच्च परतः श्रीमच्छिवपुरं महत् ।
द्वात्रिंशत् कोटिविस्तीर्णं तदर्धेन समुच्छ्रितम् ॥
सूर्यायुतप्रतीकाशं सर्वकामार्थसिद्धिदम् ।
अनेकाकारविन्यासरचनाप्रतिशोभितम् ॥
सर्वरत्नमयैर्दिव्यैस्तप्तजाम्बूनदप्रभैः ।
सहस्रशतभौमैश्च तदष्टगुणभूमिकैः ॥
अप्सरोगणसङ्कीर्णैस्सर्ववाद्यैस्समन्वितैः ।
गीतनृत्तरसोपेतैरप्रमेयगुणान्वितैः ॥
विमानैस्सर्वतो व्याप्तं ताराभिरिव चाम्बरम्' ।

इत्यादिना शिवपुरवर्णनादिकं च कृत्वा अनन्तरं, 'सिंहव्याघ्रमुखैर्दिव्यैर्गजवाजिमृगाननैः' इत्यादिना प्रमथगणादिवर्णनं च कृत्वा तदनु 'विचित्रा भूमयस्तत्र वज्रवैडूर्यसुप्रभाः' इत्यादिना तत्रत्यरम्यस्थलवर्णनं तत्र विद्यमानसुन्दरीजनवर्णनं च कृत्वा तदनूक्तम्

'तन्मध्ये सर्वतो भद्रं दिव्यमायतनं महत् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं स्थानमाद्यमुमापतेः ॥
तत्रास्ति भगवान् सोमः पूज्यमानो गणेश्वरैः ।
सिद्धैश्च स्थानसंप्राप्तैर्ब्रह्मविष्ण्वग्निवायुभिः ।
ईश्वरायतनस्याग्रे श्रीमान् धर्मो व्यवस्थितः' ॥ इति

किञ्च–

'दिनकृत्कोटिसंकाशं स्थानमाद्यमुमापतेः ।
सर्वकामसमायुक्तं विशुद्धं नित्यमक्षयम् ॥
संप्राप्य तत्पदं दिव्यमन्तःक्लेशविवर्जिताः ।
सर्वज्ञाः सर्वगाश्शुद्धाः परिपूर्णा भवन्ति च ॥
विशुद्धकार्यकरणाः परमैश्वर्यसंयुताः ।
सदेहाश्च विदेहाश्च भवन्त्यात्मेच्छया पुनः ॥
ये संप्राप्ताः परं स्थानं ज्ञानयोगरता नराः ।
न तेषां पुनरावृत्तिर्घोरसंसारमण्डले' ॥ इति ।

'सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः' इत्यारभ्य 'अनावृत्तिश्शब्दादि' त्येवमन्तैस्सूत्रैस्सायुज्यादिपदं प्राप्तानां व्यापारो दर्शितः । ननु

'आब्रह्मभुवानाल्लोकाः पुनरावृत्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' ॥ इति ।

ब्रह्मलोकं प्राप्तानामप्यावृत्तिः स्मर्यते । न च 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त' इति 'तेषामिह न पुनरावृत्तिः' इति चैवमादिश्रुतिविरोध इति वाच्यम् । इममिहेति विशेषणात् मानवान्तरे कल्पान्तरे चावृत्तेरनिवारणादिति चेत् ? सत्यं ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनानि बहूनि सन्ति, अधिकारितारतम्यानि च, तैस्साधनविशेषैरधिकारितारतम्यैश्च सालोक्यसामीप्यसारूप्यसायुज्यप्राप्तिः । अहंग्रहोपासकानाम् उपास्यतादात्म्यरहितानामुपासनान्तरानुष्ठानवतां कर्मविशेषानुष्ठानवतां ज्ञानरहितसन्न्यासिनां च

ब्रह्मलोकगमनम् । तत्रापि यथायोग्यं सारूप्यसामीप्यसालोक्यमिति पूर्वमेव वर्णितं । तत्रापि

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' ॥ इति वचनात् । ये कृतात्मानः ज्ञानवन्तः तेषां परपदप्राप्तिः निरतिशयमोक्षः । अकृतात्मनां तु आवृत्तिरेव । अकृतात्मत्वं तु इह उपासनानुष्ठानकाले विषयरागादिनेति कल्पनीयम् । इदं सर्वं पुराणेषूक्तमेव । इहैव देवतातादात्म्यसाक्षात्कारपर्यन्तमुपासनवतां सगुणसायुज्यप्राप्तिरेव, तेषां मुक्तिर्ज्ञानं च सिद्धमेव । किं च उपासनाङ्गमन्त्रेऽपि, 'धूत्वा शरीरं अकृतं कृतात्मा' इति क्रममुक्तिस्सिद्धैवाऽभिहिता ।

किं च 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति मूर्धन्यया नाड्या ब्रह्मलोकं गतस्यामृतत्वप्राप्तिर्वर्णिता । अपि च 'कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो, धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यस्स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते' इति ब्रह्मलोकं गतस्यानावृत्तिश्श्रूयते । ननु इयं श्रुतिर्भाष्यकारेण ब्रह्मलोकप्राप्तिकथनपरत्वेन न व्याख्याता । तथा हि– कुटुम्ब इत्यारभ्य धार्मिकान्विदधदित्यन्तं व्याख्याय आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य इत्यस्य ग्रन्थस्य संन्यासपरत्वेन व्याख्यानं कृतं । तथाहि 'आत्मनि स्वहृदये हार्दे

ब्रह्मणि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य उपसंहृत्य, सर्वेन्द्रियग्रहणात् कर्माणि च संन्यस्य, अहिंसन् हिंसां परपीडामकुर्वन् सर्वभूतानि स्थावरजङ्गमानि भूतान्यपीडयन्नित्यर्थः । भिक्षादिनिमित्तपर्यटनादिना पीडा स्यादित्यत्राह अन्यत्र तीर्थेभ्यः। तीर्थं नाम शास्त्रानुज्ञाविषयः, ततोऽन्यत्रेत्यर्थः। सर्वाश्रमिणां चैतत् समानं तीर्थेभ्योऽन्यत्र हिंसैवेति । अन्ये तु वर्णयन्ति कुटुम्ब एव एतत् सर्वं कुर्वन् स खल्वधिकृतो यावदायुषं यावज्जीवं स यथोक्तप्रकारेण वर्तयन् ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते देहान्ते । न च पुनरावर्तत इति पुनरावृत्तेः प्राप्तायाः प्रतिषेधात् अर्चिरादिना मार्गेण कार्यब्रह्मलोकमभिसंपद्य यावद्ब्रह्मलोकस्थितिस्तावत्तत्रैव तिष्ठति प्राक् ततो नावर्तत इत्यर्थः इति । यद्यपि ब्रह्मलोकप्राप्तिः भाष्ये प्रतीयते तथापि अन्ये तु वर्णयन्तीत्यादिना स्वाभिमतं न भवतीति प्रतीयते । ननु तस्य व्याख्यानस्य युक्तत्वे अनभिमतत्वं कथमिति चेद् ? युक्तत्वमेव नास्तीति प्रतीयते । तथाहि– व्यवहितान्वयदोषः, कुटुम्ब एव यावदायुषं स्थित्वेति, कुटुम्ब एव एतत् सर्वं कुर्वन्निति कुटुम्ब इति पदमध्याहर्तव्यं । ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते देहान्त इति देहान्तपदं च अध्याहर्तव्यम् । किञ्च आचार्यकुलादिति ब्रह्मचर्यस्य उक्तत्वात् कुटुम्ब इति गार्हस्थ्यवानप्रस्थयोरुक्तत्वाद् आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्येत्यनेन संन्यासोक्त्यौचित्याच्च इति चेद् ?

सत्यम्, अत्यन्तविरक्तं मुख्याधिकारिणं प्रति श्रुतिस्वारस्यादेवमेवार्थः प्रतीयते । अत एव श्रुत्यन्तरं 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद् वनीभूत्वा प्रव्रजेद्' इति । किञ्च भाष्यकारैरप्युक्तम् उपदेशपञ्चके 'वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतामि' त्यादिना ब्रह्मचर्यं गार्हस्थ्यं चोक्तं । अनन्तरं 'निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यतामि' त्यनेन वानप्रस्थाश्रमस्सूचित । अनन्तरं 'दृढतरं कर्माशु सन्त्यज्यताम्' इत्यनेन संन्याससाक्षादुक्तः । 'सद्विद्वानुपसर्प्यतामि' त्यादिना श्रवणादिकमुक्तम् । 'एकान्ते सुखमास्यतामि' त्यनेन समाधिरप्युक्तः । 'प्रारब्धं त्विह भुज्यतामि' त्यनेन जीवन्मुक्तिरुक्ता । 'अथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्' इत्यनेन विदेहमुक्तिरपि । अमुख्याधिकारिणमविरक्तं प्रति तु कथं सर्वकर्मसंन्यासविधानं, संन्यासिनो वा मन्दस्य कथं निर्गुणे ब्रह्मणि निष्ठा ? अत एवोक्तं भाष्यकारेण निर्गुणब्रह्मनिष्ठायामनधिकारिणं संन्यासिनं प्रति, आत्मनि स्वहृदये हार्दे ब्रह्मणि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य उपसंहृत्य, सर्वेन्द्रियग्रहणात् कर्माणि च संन्यस्येति । किञ्च सगुणनिर्गुणविद्याद्वयमपि प्रकृतं 'आकाशो ह वै नामे' ति, 'श्यामाच्छबळं प्रपद्य' इति च । अवि- रक्तस्य तु मन्दाधिकारिणः अन्ये त्विति व्याजेन सर्वमुक्तम् ।

सूतसंहितायाम्—

'अथातस्संप्रवक्ष्यामि गार्हस्थ्यं संग्रहेण तु ।
अधीत्य वेदान् विविधान् पूर्वोक्तेनैव मार्गतः ॥

आचार्यानुज्ञया युक्तस्नात्वा गार्हस्थ्यमाविशेत् ।'
इत्यारभ्य
'पुत्रमुत्पादयेत् स्वस्यां पितृणामृणशान्तये ।
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् सर्वभूतेषु सर्वदा' ॥
इत्यन्तेन गृहस्थधर्मान् सर्वानुक्त्वा,
'एवं समाचरन् विप्रो विरक्तश्चेत् गृहाश्रमात् ।
संन्यसेत् सर्वकर्माणि वेदान्ताभ्यासयत्नवान् ॥
वेदान्तश्रवणाभावे परितोऽयं भवेत् ध्रुवम् ।
विरक्तोऽपि मुमुक्षुश्चेद् हंसे वा संन्यसेद् गृही ॥
बहूदके वा शक्तश्चेन्न्यसेद्विप्रः कुटीचके ।
अविरक्तो गृही चान्ते वानप्रस्थं समाचरेत् ॥
अथवा यावदायुष्यं गार्हस्थ्यं सम्यगाचरेत् ।
गार्हस्थ्यादाश्रमास्सर्वे समुत्पन्नास्सुरक्षिताः ॥
तस्माद्गृहस्थ एव स्यादविरक्तो द्विजस्सदा' ।

तथाच 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य' इति कर्मव्यतिरिक्तकाले बाह्येन्द्रियविषयव्यापारमकृत्वा हार्दे ब्रह्मणि मनस्सन्दधीतेति व्याख्येयम् । एवञ्च 'कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः', 'अनावृत्तिश्शब्दात्', 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्', 'स्मृतेश्च' इत्येवमादिसूत्रतद्भाष्यादिकं मुख्यार्थवत्त्वेनोपपादितं भवति ।

ननु दहरविद्याप्रतिपादकत्वेनोदाहृतश्रुतिषु 'एष आत्मा अपहतपाप्मा', 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' तथा 'आदिमध्यान्तविहीन-

मेकम्' इत्यादिपदसन्दर्भैर्निर्गु ब्रह्मस्वरूपमपि प्रतीयते, कथमेतदुपासकस्य तदप्राप्तिः इति चेत् ? सत्यं । उपासकस्य सकलप्रपञ्चविनिर्मुक्तत्वेन ब्रह्मानुपासकत्वात् त्वंपदार्थशोधनाभावाच्च । अत्र तु गुणवत्त्वेनैव उपासनं । गुणानां धर्मिणमन्तरा स्वातन्त्र्येणोपासनासंभवाद् आत्मपरब्रह्मपदाद्युपादानम् । उक्तं च भाष्यकारेण 'विकारावर्ति तथा हि स्थितिमाह' इति सूत्रव्याख्यानावसरे 'न च तन्निर्विकाररूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुम्, अतत्क्रतुत्वात् तेषाम्' इति । तस्माच्छ्रुत्युक्तगुणविशिष्टं परमेश्वरं ज्ञानमुक्त्यर्थं पूर्वोक्तप्रकारेण चिन्तयेत् । उक्तं च शिवधर्मोत्तरे दशमाध्याये–

'गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रदुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
शुचिर्वाप्यशुचिर्वाऽपि शिवं सर्वत्र चिन्तयेत् ॥
स्वदेहायतनस्यान्तर्मनः संस्थाप्य शङ्करम् ।
हृत्पद्मपीठमध्ये तु ध्यानयज्ञेन पूजयेत् ॥
ध्यानयज्ञः परश्शुद्धस्सर्वदोषविवर्जितः ।
तेनेष्ट्वा मुक्तिमाप्नोति बाह्यैश्शुद्धैश्च नाध्वरैः ॥
हिंसादिदोषमुक्तत्वाद्विशुद्धश्चित्तसाधनः ।
ध्यानयज्ञः परस्तस्मादपवर्गफलप्रदः ॥
तस्मादशुद्धं स्वर्गीयमनित्यं बाह्यसाधनम् ।
यज्ञाद्यं कर्म सन्त्यज्य योगं मुक्त्यर्थमभ्यसेत्' ॥ इति ।

तत्रैव तृतीयाध्याये–

'सर्वेषामेव यज्ञानां ध्यानयज्ञः परस्स्मृतः ।
नित्यश्शुद्धः प्रसन्नश्च सर्वदोषविवर्जितः ॥
शुक्लकृष्णपरस्सूक्ष्मस्सुविशुद्धस्समाधिजः ।
ध्यानयज्ञः परो यज्ञः स्थूलः शुद्धश्च कर्मजः ॥
विशुद्धैस्साधनैस्सूक्ष्मैर्ध्यानयज्ञस्तु साध्यते ।
यस्मात्तस्माद्विशुद्धोऽयमपवर्गफलप्रदः ॥
अन्तर्यागोपचारेण यः पूजयति शङ्करम् ।
ध्यानयज्ञेन सततं स याति परमां गतिम् ॥
पुष्पैर्यमनियमाद्यैरात्मैकादशभिर्वरैः ।
दशदिक्षु तथा मध्ये यजन्ति परमेश्वरम् ॥
कर्मयज्ञात्तपोयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
जपयज्ञस्तपोयज्ञात् ज्ञेयश्शतगुणाधिकः ॥
ज्ञानध्यानात्मकस्सूक्ष्मश्शिवयोगो महामखः ।
विशिष्टस्सर्वयज्ञानामसंख्यातैर्महामखैः' ॥ इति ।

तत्रैव–

'अत्यल्पोऽपि यथा दीपस्सुमहन्नाशयेत्तमः ।
योगाभ्यासस्तथाऽल्पोऽपि महत् पापं विशोधयेत् ॥
अर्धयामं मुहूर्तं वा ध्यायतः परमं शिवम् ।
यद्भवेत् सुमहत्पुण्यमन्तस्तस्य न विद्यते ॥

यद्यन्तरा विपद्येत ज्ञानयोगार्थमुद्यतः ।
श्रद्धया गुरुभक्त्या च रुद्रलोकं स गच्छति ॥
अनुभूय सुखं तत्र कुले जायेत योगिनाम् ।
ज्ञानयोगं तदा प्राप्य संसारमतिवर्तते' ॥ इति ।

शिवधर्मे प्रथमाध्याये–

'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वाऽपि नित्यशः ।
ये स्मरन्ति विरूपाक्षं विज्ञेयास्ते गणेश्वराः' ॥ इति ।

तत्रैव–

'सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहस्सान्धमूकता ।
यत् क्षणं वा मुहूर्तं वा शिवमेकं न चिन्तयेत्' ॥ इति
'भवभक्तिपरा ये तु भवप्रणतचेतसः ।
भवसंस्मरणोद्युक्ता न ते दुःखस्य भागिनः' ॥ इति च ।
'नारुद्रस्संस्मरेद्रुद्रं नारुद्रो रुद्रमर्चयेत् ।
नारुद्रः कीर्तयेद्रुद्रं नारुद्रो रुद्रमाप्नुयात् ॥
संपर्कात् कौतुकाल्लोभाद् भयाद्वाऽपि च संस्मरेत् ।
कीर्तयेदर्चयेद्वाऽपि सोऽप्यवश्यं गणो भवेत्' ॥ इति ।

तत्रैव सप्तमे–

'ये स्मरन्ति सदा कालमीशानं पूजयन्ति वा ।
रुद्रलोकात् परिभ्रष्टा विज्ञेयास्ते गणेश्वराः' ॥ इति ।

तत्रैव–

'स्मरणादेव रुद्रस्य पापसङ्घातपञ्जरम् ।
शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा' ॥ इति ।

तत्रैव एकादशे–

'शिवार्चाग्निपरो नित्यं तद्भक्तानां च भोजनम् ।
पर्वमैथुनवर्जस्स्यात् श्रीमान् शिवगृहाश्रमी ॥
देवाग्न्यतिथिभैक्षार्थं पचेन्नैवात्मकारणात् ।
आत्मार्थं यःऽपचेन्मोहान्नरकाय स जीवति ॥
यश्शिवब्रह्मचारी स्यात् स शिवार्चाग्नितत्परः ।
भवेज्जितेन्द्रियश्शान्तो नैष्ठिको भौतिकोऽपि वा ॥
यस्सर्वसङ्गनिर्मुक्तः कन्दमूलफलाशनः ।
शिववैखानसो ज्ञेयश्शिवार्चाग्निपरो भवेत् ॥
निवृत्तस्सर्वसङ्गेभ्यः शिवध्यानपरस्सदा ।
ज्ञेयश्शिवयतीन्द्रोऽयं भस्मनिष्ठो जितेन्द्रियः' ॥ इति ।

आदित्यपुराणे त्रयस्त्रिंशाध्याये इन्द्रं प्रति बृहस्पतिः

'अस्त्यनन्तगुणावासः परानन्दैकविग्रहः ।
ध्यातः कैवल्यदः पुंसां महादेवो न चापरः ॥
कर्मपाशनिबद्धानां महामोहात्मनां हरे ।
स्मरणान्मोचकस्तेषामुमापतिरिति श्रुतिः ॥
क्षणं मुहूर्तमथवा ध्यातस्संपूजितः स्मृतः ।
प्रदद्यादाशु कैवल्यं यस्तं भज महेश्वरम्' ॥ इति च ।

तत्रैव षट्चत्वारिंशे–

'शाठ्येनाऽपि नरा नित्यं ये स्मरन्ति महेश्वरम् ।
तेऽपि यान्ति तनुं त्यक्त्वा शिवलोकमनामयम्' ॥ इति ।
कुलं पवित्रं पितरस्समुद्धृताः
वसुन्धरा तेन च पावनी कृता ।
सनातनोऽनादिरनन्तविग्रहो
हृदि स्थितो यस्य सदैव शङ्करः' ॥ इति ।

तत्रैव एकपञ्चाशदध्याये–

'स्थूलानि यानि पापानि सूक्ष्माणि विविधानि च ।
तानि नाशयति क्षिप्रं मुहूर्तं शिवचिन्तनम्' ॥ इति ।

तत्रैव चतुष्षष्टितमे–

'ब्रह्महा वा सुरापो वा स्तेयी वा गुरुतल्पगः ।
योऽन्तकाले शिवं ध्यायेच्छिवसायुज्यमाप्नुयात्' ॥ इति ।

'एवं सर्वपुराणेषु श्रुतिस्मृत्यागमादिषु ।
भोगमोक्षप्रदत्वेन शिवध्यानं विधीयते ॥
श्रुत्यादिसर्वमानज्ञैराचार्यैः प्रोक्तवर्त्मना ।
दहरोपासनारीतिरेवं सम्यक् प्रकाशिता ॥
मनसि प्रणिधानार्थं पुनः श्लोकैः प्रकाश्यते ।
विविक्तदेशसंसेवी शुचिर्मौनी सुखासनः ॥
भूतिभूषितसर्वाङ्ग ऋजुकायस्समाहितः ।

जितेन्द्रियो निजं भक्त्या प्रणम्य मनसा गुरुम् ॥
अहमेव हरिस्साक्षात् सर्वज्ञः पुरुषोत्तमः ।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षस्सहस्रपात् ॥
विश्वो नारायणो देवो ह्यक्षरः परमप्रभुः ।
इति ध्यात्वा पुनः स्वस्य हृदयाम्भोजमध्यमे ॥
प्राणायामैर्विकसिते पारमेश्वरमन्दिरे ।
अष्टैश्वर्यदळोपेते विद्याकेसरसंयुते ॥
ज्ञाननाळे महत्कन्दे प्रणवेन प्रबोधिते ।
विश्वार्चिषं महावह्निं ज्वलन्तं विश्वतोमुखम् ॥
वैश्वानरं जगद्योनिं शिखातन्विनमीश्वरम् ।
तापयन्तं स्वकं देहमापादतलमस्तकम् ॥
निवातदीपवत् तस्मिन् दीपितं हव्यवाहनम् ।
नीलतोयदमध्यस्थं विद्युल्लेखेव भास्वरम् ॥
नीवारशूकवद्रूपं पीतभासं विचिन्तयेत् ।
तस्य वह्नेश्शिखायास्तु मध्ये परमकारणम् ॥
परमात्मा परानन्दः प्रणवार्थो महेश्वरः ।
ऋतं वैतथ्यरहितः सत्यं कालत्रयेऽपि सन् ॥
परं ब्रह्म परं तत्वं पुरुषः पूर्णविग्रहः ।
पुण्यापुण्यादिरहितः विजरो मृत्युवर्जितः ॥
विशोको विजिघत्सोऽन्नभक्षणे रागवर्जितः ।

अपिपासः पानरागविहीनो विशदोऽमळः ॥
अचिन्त्यो वृत्त्यविषयोऽव्यक्तो व्यक्तिविवर्जितः ।
अनन्तरूपः कालादिपरिच्छेदविवर्जितः ॥
शिवः कल्याणनिलयः प्रशान्तो मोहवर्जितः ।
अमृतश्चादिमध्यान्तविहीनश्चैक एव हि ॥
विभुर्व्यापी चिदानन्दो ह्यरूपो रूपवर्जितः ।
सत्यकामस्तथा सत्यसंकल्पश्च परात्मनि ॥
सत्याः कामाश्च सन्त्येव वशी सर्वस्य वस्तुनः ।
ईशानस्सर्वभूतस्य सर्वस्याधिपतिस्तथा ॥
ब्रह्मयोनिर्वेदवेदशिरोलोकेशकारणम् ।
परमेश्वर उत्कृष्टो ब्रह्मादीनां नियामकः ॥
प्रभुस्सर्वक्रियाधृष्टो विश्वरूपोऽखिलात्मकः ।
कृष्णपिङ्गळ ईशाङ्गसंयुक्तार्धाङ्गसुन्दरः ॥
ऊर्ध्वरेता दीप्ततपा जटाभूत्यक्षभूषणः ।
नियतो ज्ञानसंपन्नस्स्वात्मध्यानपरायणः ॥
विरूपाक्षोऽयुग्मनेत्रो विशोकस्तापवर्जितः ।
उमासहायश्चिच्छक्तिसहितस्साम्बविग्रहः ॥
त्रिलोचनो वीतिहोत्रसोमभास्करलोचनः ।
नीलकण्ठः कालकण्ठस्सर्वतापनिवारकः ॥
प्रशान्तस्सुप्रसन्नाक्षः प्रसन्नमुखपङ्कजः ।

अद्भुतो विस्मयकरस्सर्वलोकविलक्षणः ॥
एवं भूतस्तारवाच्यस्सर्वात्माऽहं महेश्वरः ।
प्रारब्धे फलशान्ते तु नाडीरश्मिसमन्वितः ॥
मूर्द्धद्वारा विनिर्गत्य अर्चिरादिपथा ह्यहम् ।
आतिवाहिकदेवैश्च नीतो विद्युत्स्थलावधि ॥
ब्रह्मलोकादागतेन बहुमानपुरस्सरम् ।
अमानवेन देवेन नीतो ब्रह्मसभां पुनः ॥
ब्रह्मभावं प्राप्य ततो ब्रह्मणा सह मुक्तिमान् ।
एवं दहरविद्याङ्गमन्त्राच्छ्यामादितीरितात् ॥
उदीरितार्थध्यानाच्च ब्रह्माहमिति निश्चयः ।
इतोऽपि संग्रहेणैव पूर्वोक्तं पुनरीर्यते ॥
सूरोक्तायां संहितायामादरेण प्रकाशितम् ।
'विविक्तसेवी लध्वाशी सुखासीनो जितेन्द्रियः ॥
समग्रीवशिरःकायश्शुचिर्भस्मावकुण्ठितः ।
त्रिपुण्ड्रधारणैर्युक्तो गुरुभक्तिसमन्वितः ॥
हृत्पुण्डरीकमध्ये तु शिवं सत्यादिलक्षणम् ।
सर्वस्य जगतस्साक्षात् सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ॥
उमासहायं कल्याणं नीलकण्ठं त्रिलोचनम् ।
प्रशान्तं प्रभुमीशानं ध्यायेन्नित्यमतन्द्रितः ॥

ध्यानेनैव शिवज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिर्न कर्मणा ।
कर्म तु ज्ञानहेतुस्स्यादिति तत्त्वविदां स्थितिः' ॥ इति ।
शिवराघवसंवादे पादे (पाद्मे ?) चैवमुदीरितम् ।
'हृत्पुण्डरीकनिलयं विशुद्धं विरजं तथा ॥
विशोकं च विचिन्त्यात्र ध्यायेन्मां परमेश्वरम् ।
अचिन्त्यरूपमव्यक्तमनन्तममृतं शिवम् ॥
आदिमध्यान्तरहितं प्रशान्तं ब्रह्म कारणम् ।
ईशं विभुं चिदानन्दमरूपमजमद्भुतम् ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशमुमादेहार्धधारिणम् ।
व्याघ्रचर्माम्बरधरं नीलकण्ठं त्रिलोचनम् ॥
जटाधरं चन्द्रमौळिं नागयज्ञोपवीतिनम् ।
व्याघ्रचर्मोत्तरीयं च वरेण्यमभयप्रदम् ॥
कराभ्यामूर्ध्वहस्ताभ्यां बिभ्राणं परशुं मृगम् ।
कोटिमध्याह्नसूर्याभं चन्द्रकोटिसुशीतळम् ॥
चन्द्रसूर्याग्निनयनं स्मेरवक्त्रसरोरुहम् ।
भूतिभूषितसर्वाङ्गं सर्वाभरणभूषितम्' ॥
आत्मार्पणे शिवध्यानमेवं दीक्षितवर्णितम् ।
'चारुस्मेराननसरसिजं चन्द्ररेखावतंसं
फुल्लन्मल्लीकुसुमकलिकादामसौभाग्यचोरम् ।

अन्तः पश्याम्यचलसुतया रत्नपीठे निषण्णं
लोकातीतं शिवद सततं रूपमप्राकृतं ते' ॥

शिवरहस्ये–

'श्रीविश्वेशमुमासहायमनघं विश्वात्मकं चिद्घनं
सत्यज्ञानमनन्तमक्षरमजं निर्लेपमेकं प्रभुम् ।
ओङ्कारात्मकमक्षरं परतरं ब्रह्मादिभिर्भावितं
सानन्दं हृदि भावये भवभयध्वान्तेन्दुमानन्ददम् ॥
वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयश्शब्दो यथार्थाक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुःस्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥
ब्रह्मेति व्यपदिश्यते श्रुतिषु यः ख्यातः पुराणेष्वपि
ब्रह्माणं जगदादिभूतमसृजन्यस्सेन्द्रनारायणम् ।
यत्रैव व्यवतिष्ठते च सकलाधिष्ठातृभावस्स वः
साम्बश्शम्भुरनम्बरोऽम्बरगतश्श्रेयो विधत्तां शिवः' ॥

देहार्धयोगश्शिवयोस्स श्रेयांसि तनोतु वः ।
दुष्प्रापमपि यत्स्मृत्या जनः कैवल्यमश्नुते ॥
एषा त्र्यम्बकमखिनश्श्रीरामेन्द्रस्य वरदराजस्य ।
शङ्करनारायणमखिवरस्य चाभ्यर्थनावशाद्रचिता ॥

शिवो महेश्वरश्चैव रुद्रो विष्णुः पितामहः ।
संसारवैद्यः सर्वज्ञः परमात्मेत्युदाहृतः ॥ इति ।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याभिनवनारयणेन्द्रसरस्वती-
पूज्यपादशिष्यश्रीमत्परमशिवेन्द्रसरस्वतीविरचिता
दहरविद्याप्रकाशिका समाप्ता ॥

श्रीसाम्बशिवाय नमः । श्रीगुरुभ्यो नमः ।

॥ शुभमस्तु ॥